राम-भक्ति शाखा

(आलोचनात्मक इतिहास)

लेखक तथा प्रकाशक

विद्यावाचस्पति

श्री अनन्त 'मराल' शास्त्री,

एम० ए०, एम० ओ० एल०;

साहित्य मन्दिर, कृष्ण नगर, लाहौर ।

प्राप्तिस्थान—

पंजाब साहित्य मन्दिर

सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर ।

तृतीय संस्करण] [१९४३

दो शब्द

हिन्दी-साहित्य आज अपनी उन्नततम अवस्था में पहुँच गया है और यह आवश्यक है कि इसकी भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों पर विश्लेषणात्मक, गवेषणात्मक और विवेचनात्मक अध्ययन से पूर्ण पुस्तकें लिखी जायँ। प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी-साहित्य के प्रमुख अंग राम-भक्ति-काव्य पर इसी दृष्टि से विचार किया गया है।

हिन्दी-साहित्य में रामभक्ति की कविता का जो प्रवाह तुलसीदास के समय से आरम्भ हुआ वह आज भी वेग से प्रवाहित हो रहा है। किन किन अवस्थाओं में होकर यह धारा प्रवाहित हुई इसी का इसमें वर्णन है। अपने इस अध्यवसाय में कहां तक सफल हुआ हूँ इसका निर्णय तो सहृदय विद्वान् ही करेंगे।

इस प्रयत्न में मुझे जिन लेखकों की पुस्तकों और जिन व्यक्तियों से सहायता मिली है उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। श्री उदयशंकर भट्ट ने समय समय पर अपनी सम्मति देकर और इसकी भूमिका लिखकर जो अनुग्रह किया है उसके लिये आभारी हूँ।

लाहौर,
गंगा दशहरा सं० १९९८ वि० } अनन्त 'मराल'

—:o:—

निवेदन

वीणा की झंकृति से उर में
उमड़ा करता स्वर का सिन्धु।
मां वाणी के कर पल्लव में
सह्रुद समर्पित हैं ये बिन्दु॥

'मराल'

विषय-सूची

भूमिका

साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है, उसमें समाज और व्यक्ति, काल और गति, उत्थान और पतन, धर्म और श्रद्धा, राजनीति और कूटनीति सभी कुछ परिलक्षित होता है। जीवन के साथ मरण भी, शैशव के साथ यौवन भी, जरा के साथ असहाय अवस्था भी सब कुछ जैसे अपने आप शीशे में परछाईं की तरह चमकने लगता है। वह काल की झुर्रियों के साथ मनुष्य के आत्म-विश्वास को भी दिखाता है। संस्कृति उस जीवन में वेश की तरह आती है; आत्म-विश्वास, धारणाएँ भावनाएँ, प्रेम उस साहित्य में अपने आप प्रतिमूर्त होते जाते हैं। आदर्श, यथार्थ दोनों का रूप कल्पना के पंखों से मढ़ा जाकर अभिव्यक्त होता है। मनुष्य के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ साहित्य में विकसित होकर इतिहास बनती हैं। यहीं से समाज के निर्माण का कार्य प्रारम्भ होता है। हम व्यक्ति का, समाज का प्राण साहित्य में भर कर उसे अनुप्राणित करते हैं, किन्तु साहित्य छान-बीन करके कूड़ा-कर्कट फेंक कर शुद्धानुभूति द्वारा, कला के उत्कर्ष के द्वारा हमें अपनी ओर आकृष्ट करके हमारा अंग बन जाता है। जीवित प्राणियों का प्राण साहित्य जहाँ उनसे लेता है वहाँ उन्हें देता भी है। यही क्रम बहुत काल से चला आ रहा है। जहाँ साहित्य का रूप, उसकी धारणा आदर्श की ओर झुकी रहती है, वहाँ वह सार्वजनिक जीवन का प्रतिबिम्ब न रह कर हमारी अनुकरणकारिता की ग्राह्य शक्ति से समुर्वरित होता है। हम उसके पीछे चलते हैं वह हमारा पथदर्शक होता है। हम समझते हैं इस प्रकार हम एक लक्ष्य पर पहुँच जाँयगे। एक ऐसे स्थान पर पहुँच जाएँगे जहाँ जाकर हमें पीछे न लौटना होगा। वहाँ हमारा मनस्तोष होगा, आत्मतृप्ति होगी। वहाँ हम जीवन का वास्तविक आनंद उठा सकेंगे।

इस विचार में भ्रान्ति भी हो सकती है परन्तु यह निश्चय है जिस पुस्तक की भूमिका लिखने के लिये आज मुझ से कहा गया है उसकी वास्तविक धारणा यही थी। उसकी प्रेरणा हमारे समाज के कल्याण की, व्यक्ति के उत्थान की भावना को लेकर आई थी। हमने उसमें जीवन की निराशा में आशा का एकमात्र दीपप्रकाश देखा। उसी के सहारे हमारे देश के मुमूर्षु प्राणों ने आलोकित पथ पाया।

हिन्दी-साहित्य का सुविशाल प्रासाद जिन नींवों पर खड़ा किया गया है रामभक्ति शाखा का उसमें बहुत गहरा स्थान है। यदि कृष्णाश्रयी शाखा में शुद्ध और अशुद्ध शृंगारमयी हिन्दी कविता का चरम विकास है तो रामभक्ति शाखा को प्रसाद

गुण युक्त हिन्दू जीवन का प्राण कहना चाहिये। वस्तुतः उसने कला के साथ हमें जीवन भी दिया है। वैसे तो मैं कला को शुद्ध, सोलहो आने शुद्ध मानता हूँ परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है वह हमें विनाश की ओर ले जाय। कला यदि वास्तविक कला है तो विनाश उसका ध्येय नहीं हो सकता। वह तो हमारे कलाकार के पवित्र प्राणों का चरम निष्कर्ष है जिसम जीवन की अनुभूति है, उसका विकास है। 'कला अमृत है' जो सदा शुद्ध रहती है और अधिकारी के हाथों में पड़ने पर अमृत ही सिद्ध होती है। साहित्य, सत्साहित्य उसी से बनता है जो स्थायी रहता है। विश्व में जिन साहित्यकारों ने अपनी कला को शुद्ध रख कर, उसे अछूता रहने देकर, वासना का पुट न चढ़ाकर उसे जगत को दिया है वे विश्ववंद्य कलाकार थोड़े हैं। उनकी ऐसी रचनाएँ स्थायी हैं। पुष्प प्रकृति की कला का श्रेष्ठ विकास है, वह अधिकारी भेद से मूर्ति पर चढ़ाया जाकर हृदय में पवित्रता भरता है, विलासी के हाथों में पड़कर उसे कामातुर भी बनाता है। पुष्प इसी लिये खराब नहीं हो सकता कि उसने संसार में विलासिता की वृद्धि की है। वह तो जैसे प्रकृति के जीवन एवं उसकी जागृति का प्रतीक है वैसे ही मनुष्य का भी जीवन है। उसके हृदय में आनंद, आह्लाद भरने का एक साधन भी।

अस्तु, यह तो मैं नहीं कहता कि रामभक्ति के ऊपर लिखने वाले सभी कवियों की कला वैसे ही शुद्ध है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है परन्तु इतना निश्चय है कि उससे हिन्दुओं को सात्विक जीवन अवश्य प्राप्त हुआ है। उसके प्राण प्रतिष्ठाकार तुलसीदास के द्वारा तो स्पष्ट ही। तुलसीदास उस समय की बीमारी की औषध थे जिस समय उसका प्रादुर्भाव हुआ। अपनी कविता द्वारा तुलसीदास ने निराशा में आशा, साहसहीन में साहस, बीमार में स्फूर्ति प्रदान की।

मैं नहीं कह सकता गोस्वामीजी ने रामचरितमानस-साहित्य का सृजन साहित्य के लिये किया, परन्तु इतना स्पष्ट है कि शुद्ध हृदय, सततसाधना, आत्म-विश्वास, आत्मतोष की दृष्टि से लिखा गया उनका वह ग्रन्थ साहित्य की अमूल्य निधि अवश्य बन गया। वस्तुतः साहित्य का सृजन हृदय की जिन उत्कट प्रेरणाओं, तीव्र अनुभूतिओं की अपेक्षा रखता है उन्हीं नियमों में कसा जाकर स्रष्टा तुलसीदास का सृजन भक्तों के लिये वरद होते हुए भी साहित्यिकों का आभरण बन गया।

हम मानते हैं भक्ति भी साहित्य का अंग है। यह तो युग का प्रभाव है कि साहित्य कभी किसी एक भावना से अभिभूत रहता है और कभी दूसरी से। वैदिककाल का साहित्य यज्ञ, कर्मकाण्डप्रधान रहा है। उपनिषद् साहित्य केवल उपासना-प्रधान। दर्शन युग चिन्तन-प्रधान। समाज या उसके विशि व्यक्तिओं की प्रवृत्तियाँ युग बन कर आती

हैं तथा वे व्यक्तिकाल से, समाज से अपनी प्रेरणा प्राप्त करते हैं। उस 'मूड' में लिखा गया साहित्य अपने युग का प्रदर्शन कराता है। हाँ, तो मैं कह रहा था कि तुलसीदास ने जीवन की आवश्यकता को समझ कर उसके रूप मार्ग को बदलने के लिये जो सृजन किया, वह उनकी आत्मदृढ़ता के कारण, लिखने की उत्कट एवं सत्य प्रेरणा के कारण हमारा वास्तविक पथ्य बन गया।

यहाँ रेवरेण्ड ए. ग्रीब्स के रामचरितमानस तथा गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में प्रगट किये विचारों का उल्लेख करना अनुचित न होगा। वे लिखते हैं:—

'अन्य लोगों की भाँति काव्य में भी लोगों की रुचि भिन्न भिन्न हुआ करती है। कुछ पाठकों को कवि विहारीलाल की रचना विशेष प्रिय मालूम होती है। शब्दयोजना में वे अवश्य ही बड़े प्रवीण हैं, किन्तु उनकी सतसई में इसके अतिरिक्त कौन-से गुण रह जाते हैं ? कुछ दूसरे लोगों को सूरदास की कविता बड़ी मनोहर प्रतीत होती है। निश्चय ही न तो कोई मनुष्य उनकी साहित्य-सुन्दरता तथा मनोहरता को लघुता प्रदान कर सकता है और न उनके पदों के माधुर्य में ही सन्देह कर सकता है। इस विषय पर हमें मेकाले की निर्दोष अंग्रेजी के ऊपर कारलाइल के ये उद्गार स्मरण हो आते हैं—'हे कान्तिमयी सरिते! बहती जाओ, (Flow on thou Shining river)।' सूरदास विचित्र फूलों और फलों से भरपूर एक ऊँचे पठार पर स्थित हैं। पर क्या नीचे की समतल भूमि में उनकी सी अभिरामता नहीं आ सकती ? यद्यपि उनका स्थान बहुत ऊँचा है तथापि ढालों और शृंगों में भी मनोहरता हो सकती है। महात्मा कबीर जी में अपने ढंग की एक महानता है। सम्भवतः कोई भी कवि इतने कम शब्दों में इतने ऊँचे भाव नहीं भर सकता। संक्षिप्त कथन की शक्ति तथा रूखे ओजपूर्ण पदों के प्रयोग में उनकी कोई समानता नहीं कर सकता। उनके पदों में बहुत से व्यावहारिक सिद्धान्त भरे हैं किन्तु (?) फिर भी तुलसीदास जी और कबीर जी में इतनी समानता नहीं कि तुलना की जा सके।

हिन्दी-साहित्य को उनके कवियों ने समृद्धिशाली बनाया है किन्तु तुलसीदास का स्थान निश्चय ही उन सब में ऊँचा है। अन्य कवियों में तुलसीदास जी की अपेक्षा कोई विशेष गुण भले ही हो परन्तु तुलसीदास जी में तो अनेक उच्च और महान गुणों का समन्वय है। उनकी रामायण में कैसे वीरत्व और विनयपूर्ण भावों का प्रवाह दीख पड़ता है ? ये केवल हमारी प्रशंसा के पात्र नहीं प्रेम के भी हैं और वह प्रेम उन्हें प्राप्त भी हुआ है। इसका ज्वलन्त उदाहरण यही है कि समस्त हिन्दी-साहित्य में ऐसी कोई पुस्तक नहीं, जिसका राजप्रासाद से लेकर एक निर्धन की कुटिया तक इतना अधिक प्रचार हो।'

खेद है ऐसे महान युगनिर्माता के जीवन, उनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में हम अभी तक किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाये हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में उसी लोक-कल्याण-कारिणी रामभक्ति शाखा पर, जिसके हिन्दी के आदिम आचार्य गोस्वामी तुलसीदास थे, विचार किया गया है। लेखक ने सभी प्राप्य एवं दुर्लभ मतों का निष्कर्ष निकाल कर मौलिक ढंग से उनकी व्याख्या की है। तथा रामभक्ति के सम्बन्ध में प्राय: सभी कवियों, सन्तों, महात्माओं के जीवन का उल्लेख करते हुए उनकी कविता, कला, उपयोगिता पर विचार किया है। मेरे देखने में अभी तक ऐसी कोई पुस्तक नहीं आई जिसमें इस प्रकार का प्रयत्न हो। रामकाव्य के सम्बन्ध में इस प्रकार का किया गया प्रयत्न निश्चय ही स्तुत्य एवं प्रशंसनीय कहा जायगा।

इस पुस्तक में तुलसीदास, केशव, रीवाँनरेश रघुराजसिंह, विश्वनाथसिंह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गिरधरदास, सखी संप्रदाय के आचार्य जनककिशोरीशरण, आधुनिक लोकप्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त तथा कवि अयोध्यासिंह उपाध्याय के ग्रंथों का निचोड़ लेकर पुस्तक का कलेवर पुष्ट किया गया है।

मुझे विश्वास है रामभक्ति काव्य को एक जगह देखने और पढ़ने की इच्छा वाले पाठकों, छात्रों को इससे लाभ होगा और वे निश्चय ही इस ग्रंथ में दी गई उपपत्तियों के आधार पर अपनी दृढ़ धारणाएँ बना सकेंगे।

इस ग्रन्थ के लेखक श्री अंनत मराल बड़े अध्यवसायी और प्रतिभावान् व्यक्ति हैं मुझे विश्वास है कि उनकी यह कृति हिन्दी-संसार के आदर की वस्तु होगी।

कृष्णागली, लाहौर। **उदयशंकर भट्ट**

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

मनुष्य समाज में भक्ति की भावना एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति सभी देशों और सभी कालों में समान रूप से पाई जाती है। अपनी इसी प्रवृत्ति को कार्यरूप में परिणत करने के लिये जो चेष्टाएँ मनुष्य ने की हैं उन्हीं ने संसार के विभिन्न धर्मों—उपास्य देवताओं और उपासना की प्रणालियों को इतना लोक-प्रिय बनाया है।

भारतवर्ष में विष्णु-पूजा की भावना अत्यन्त प्राचीन है। संसार में जिन देवताओं की पूजा लोक-प्रिय हुई है उनमें से विष्णु का सर्वोच्च स्थान है। संसार के सब से प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में विष्णु का नाम आता है परन्तु ऋग्वेद के विष्णु और सूर्य में भेद करना कठिन है। आगे चलकर पौराणिक युग में जिन वैदिक देवताओं का विकास हुआ उनमें विष्णु को प्रधानता मिली और विष्णु ही समस्त संसार के कारण बन गये। ब्रह्मा, शिव तथा अन्यान्य देवता उनके अधीन शक्तियों के रूप में देखे गये। विष्णु का जो रूप हमें पुराणों में मिलता है उनके अनुसार वे क्षीरसागर में निवास करते हैं, लक्ष्मी उनकी पद-सेवा करती हैं, शेषनाग उनकी शय्या है, ब्रह्मा का जन्म उनकी नाभि से निकले कमल से हुआ है, गरुड़ उनका वाहन है, काले मेघ के समान उनके शरीर की आभा है, उनकी चारों भुजाएँ शंख, चक्र, गदा और पद्म से सुशोभित हैं, उनके गले में कौस्तुभ मणि की माला शोभायमान है और मस्तक पर मुकुट। वैकुण्ठ भी उनका निवासस्थान है। विशेषता यही है कि वैकुण्ठ की शोभा राजसी ऐश्वर्यों के कारण वर्णनातीत है और मरने पर वैष्णव भक्तों को वैकुण्ठ में स्थान मिलता है।

भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास पर विचार करने से पता चलता है कि विष्णु की भक्ति का प्रचार भारत के प्रायः सभी भागों में हुआ। भागवत धर्म की परम्परा के अनुसार विष्णु ने स्वयं ही वैष्णव-धर्म का उपदेश ब्रह्मा को किया। ब्रह्मा से नारद को उसका ज्ञान हुआ। नारद ने इस अलौकिक धर्म को व्यास से बताया और फिर इसका

सर्वत्र प्रचार हुआ। जो भी हो यह तो निश्चित ही है कि वैष्णव-धर्म भारत का अत्यन्त लोक-प्रिय और व्यापक धर्म रहा है। जिन विद्वान् और भक्तों ने वैष्णव धर्म का दार्शनिक विवेचन और प्रचार किया उनको जन्म देने का श्रेय प्रधानतः दक्षिण को ही है। इसका कारण यह है कि उत्तर भारत विदेशियों के निरन्तर आक्रमण से इतना आक्रान्त रहा कि इस कार्य के लिये उसे अवकाश ही न मिला। जिन महात्माओं ने विष्णु-भक्ति का दार्शनिक विवेचन और प्रचार किया उनमें से प्रधान हैं रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, निम्बार्क, रामानन्द, चैतन्य और वल्लभाचार्य। विष्णु को ही ब्रह्म मानते हुए भी इन लोगों के सिद्धान्तों में बहुत कुछ भेद हैं। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि वैष्णव धर्म में समाज-सुधार की भावना को बहुत स्थान मिला और विभिन्न आचार्यों के ग्रंथ सामाजिक सुधार की इन भावनाओं से भरे पड़े हैं।

मनुष्य को ईश्वर का रूप देने की प्रवृत्ति कितनी प्राचीन है यह कहना कठिन है। किन्तु यह प्रवृत्ति है स्वाभाविक। जब हम अपने भक्ति-भाजन का बहुत अधिक आदर करते हैं—उसके प्रति हमारा अपरिमित प्रेम हो जाता है तब हम उसमें ईश्वर का स्वरूप देखने लगते हैं। अवतारवाद में भी यही मानवीय प्रवृत्ति काम करती है। इसी प्रवृत्ति ने नर और नारायण को एक कर दिया। अवतारों की संख्या बढ़ी, वे क्रमशः छः, दस और चौबीस हो गए। विष्णु के जिन अवतारों का अधिक आदर हुआ वे हैं राम और कृष्ण। इन्हीं को लेकर हिन्दी-साहित्य में भक्ति की धारा प्रबल वेग से प्रवाहित हुई। सूरदास और तुलसी जैसे महाकवियों ने अपनी मधुर और पवित्र वाणी से जो कीर्तन किया वह भक्तों के हृदय को आज भी आनन्दित कर रहा है।

उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार करनेवाले सर्वप्रथम महात्मा रामानन्द जी थे, इनके पिता का नाम पुष्पसदन शर्मा और माता का सुशीला था। बचपन से ही काशी आकर इन्होंने वैष्णव धर्म के आचार्य श्री राघवानन्द जी से शिक्षा ग्रहण की। ये अपने गुरु के परम प्रिय शिष्य थे और उनके बाद उनके स्थानापन्न हुए। वैष्णव धर्म के आचार्य बनकर इन्होंने सारे देश में भ्रमण किया और अपने आराध्य सीताराम की भक्ति और उपासना का खूब प्रचार

किया। इनके सिद्धान्त के अनुसार छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं है। इनके शिष्यों में कुछ नीच कहलाने वाली जातियों के लोग भी हैं। इन्हीं की कृपा से कबीर गुरुवाले बने और भक्तों में उनका आदर हुआ। यद्यपि कबीर और रामभक्ति की परम्परा में आनेवाले अन्य सगुण उपासक कवियों एवं महात्माओं के सिद्धान्तों में आकाश-पाताल का भेद है किन्तु इसमें संदेह नहीं कि कबीर के उपास्य भी राम ही हैं। अपनी भावना के भेद से उनके स्वरूप में भेद का आ जाना दूसरी बात है। इनके अतिरिक्त उनके और भी कई शिष्य हुए परन्तु साहित्यिक दृष्टि से उनका महत्व अधिक नहीं है। आचार्य रामानुज केवल द्विजातियों को ही भक्ति का अधिकारी समझते थे। परन्तु इसके विपरीत जब रामानन्द ने जातिपाँति का भेद हटाकर रामभक्ति का उपदेश देना आरम्भ किया तो बहुत सी नीच कहलाने वाली जातियों के लोग भी उनके आश्रय में आकर कृतकृत्य हुए। रैदास भक्त जाति के चमार थे और सेन भक्त नाई। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उच्च जाति के लोगों ने उनसे दीक्षा नहीं ग्रहण की। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत बड़ी संख्या में लोग रामभक्ति की ओर अग्रसर हुए। भक्तमाल के अनुसार रामानन्दजी के बारह शिष्य निम्नलिखित हैं-आनन्दानन्द, सुखानन्द, नरहर्यानन्द, कबीर, सेन, धना, रैदास, पद्मावती, सुरसुरी, सुरसुरानन्द, भावानन्द और पीपा। रामानन्द जी का समय बिल्कुल ठीक निर्धारित करना कठिन है किंतु प्राप्त सामग्री के आधार पर उसके आसपास पहुँचा जा सकता है। वैरागियों की परम्परा के अनुसार मानिकपुर में रामानन्द जी और शेख़ तकी का शास्त्रार्थ एक प्रसिद्ध घटना है। शेख़ तकी और कबीर में जो शास्त्रार्थ हुआ वह भी प्रसिद्ध है। शेख़ तकी दिल्ली के बादशाह सिकन्दर लोधी के समकालीन थे जिसका राज्यकाल विक्रमी संवत् १५४६ से १५७४ तक है। अतः महात्मा रामानन्द का समय इसी समय के आसपास निर्धारित किया जा सकता है। रामानन्द जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ श्री रामार्चनपद्धति में अपनी जो गुरुपरम्परा दी है उसके अनुसार रामानुजाचार्य चौदह पीढ़ी पहले से है। रामानुज की मृत्यु का समय संवत् ११६४ माना जाता है। यदि चौदह पीढ़ियों के लिए साढ़े तीन सौ वर्ष मान लिये जायँ तब भी रामानन्द जी का समय वही विक्रम की १६ वीं शताब्दि का मध्य

काल ठहरता है। किन्तु कबीरपंथी संवत् १४५५ को कबीर का जन्म-काल मानते हैं। कबीर के गुरु होने के कारण रामानन्द जी कबीर के समकालीन हुए। अस्तु यदि यह मान लिया जाय कि उनका शास्त्रार्थ जो शेख तकी के साथ हुआ था उनके अन्तिम दिनों में हुआ हो और उनकी आयु लगभग सौ वर्ष की हो तो उनका जन्म लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में सिद्ध होता है। किन्तु 'भक्तमाल' की टीका में रामानन्द जी का जन्म संवत् १३५६ पाया गया है।

रामानन्द जी के दो संस्कृत ग्रन्थ मिलते हैं उनमें से एक है 'वैष्णवमताब्ज-भास्कर' और दूसरा 'श्री रामार्चनपद्धति'। हिन्दी में उनके कुछ पद ही मिलते हैं। हनुमान जी की आरती का एक पद बहुत प्रसिद्ध है। उसकी कुछ पंक्तियों का अवलोकन कीजिये—

आरति कीजै हनुमान लला की। दुष्टदलन रघुनाथकला की॥
जाके बल भर ते महि काँपे। रोग सोग जाकी सिमा न चाँपे॥

बहुत से लोगों ने रामानन्द जी के नाम पर रचनाएँ कर डाली हैं, किन्तु उन्हें देखकर यह कहना कठिन है कि ये रामानन्द जी के पद्य हैं।

रामभक्ति के विकास पर जब हमारी दृष्टि जाती है तब हमारा ध्यान सहसा वाल्मीकि रामायण की ओर जाता है। यों तो समस्त भारतीय साहित्य में क्षेपकों का इतना अधिक प्राधान्य है कि किसी भी ग्रन्थ की प्रामाणिकता के संबंध में विचार करते हुए एक समस्या आ खड़ी होती है। यही बात वाल्मीकि-रामायण के संबंध में भी है। संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वानों ने वाल्मीकि-रामायण के प्रथम और सप्तम काण्ड की प्रामाणिकता पर संदेह प्रकट किया है। बीच के पाँच काण्डों के संबंध में भी जहाँ-तहाँ संदेह किया जा सकता है। तथापि यह कहा जा सकता है कि इन पाँच काण्डों का रूप अधिक विकृत नहीं हुआ। वाल्मीकि के राम तुलसी के राम से भिन्न हैं। वे एक मनुष्य हैं, एक लौकिक पुरुष हैं। वाल्मीकि के राम के संबंध में पढ़ते हुए हम धार्मिकता के धरातल से ऊपर रहते हैं और हमारे सामने राम का वह सुन्दर और लौकिक आदर्श विद्यमान होता है जिसे देखकर हमें विस्मय नहीं होता। हम वास्तविकता के वातावरण में रहते हैं। राम के प्रति हमारी श्रद्धा होती है, आदर से हमारा मस्तक उनके सामने झुक जाता

है। इसलिए नहीं कि वे परब्रह्म के अवतार हैं अपितु इसलिए कि वे मर्यादापुरुषोत्तम हैं। राम का वह आदर्श इतना लोकप्रिय हुआ कि काव्यों और नाटकों में उन्हें धीरोदात्त नायक के रूप में स्थान मिला। कालिदास जैसे महाकवि ने अपने प्रसिद्ध काव्यग्रंथ रघुवंश में राम की कीर्त्ति का गुण गान किया है। उत्तररामचरित के रचयिता सरस्वती के वरद पुत्र भवभूति ने राम के हृदय का जितना सुन्दर चित्रण किया है और उसमें करुण-रस का जैसा सन्निवेश किया है, विश्वसाहित्य में उसका उदाहरण मिलना कठिन है। वाल्मीकि ने राम को न तो अवतार माना है और न विष्णु से उनका कोई संबंध ही दिखाया है। जिन दिनों बौद्ध धर्म का विकास अपनी चरम सीमा को पहुँच गया और दैवी शक्तियों का समावेश करके बुद्ध को देवत्व प्रदान किया गया, हो सकता है उन्हीं दिनों अवतारवाद की आवश्यकता समझ कर जिस प्रकार बुद्ध को विष्णु का एक रूप मान लिया गया उसी प्रकार असाधारण गुणों से युक्त होने के कारण राम को भी विष्णु का अवतार मान लिया गया हो। सबसे पहले वायुपुराण में राम को विष्णु का अवतार माना गया है। परन्तु यह कहना कठिन है कि वायुपुराण की रचना का ठीक समय क्या है। सुप्रसिद्ध विद्वानों के मतानुसार वायुपुराण का रचना काल ईसा से ५०० वर्ष पूर्व मान लिया जाय तो भी यह कौन कह सकता है कि वायुपुराण का वह अंश जिसमें राम को विष्णु का अवतार माना गया है उतना ही प्राचीन है। वाल्मीकि-रामायण के जो अंश प्रामाणिक नहीं हैं उनमें राम को विष्णु का अंश माना गया है और विष्णु के स्थान में राम को लेकर उनकी पूजा की भावना को प्रधानता है। विष्णु से राम बनकर विष्णु की महत्ता कम नहीं हुई। लोगों को एक ऐसे उपास्य देवता की प्राप्ति हुई जो देवत्व से ही नहीं वीरत्व से भी अलंकृत है। धीरे धीरे ज्यों ज्यों अवतारवाद का प्रचार बढ़ता गया त्यों त्यों विष्णु के अधिकाधिक रूपों का वर्णन ग्रन्थों में आता गया। मानव धर्म शास्त्र में जिसकी रचना ईसा की दूसरी शताब्दि के आसपास मानी जाती है उसमें विष्णु के केवल छः अवतारों का वर्णन है। आगे चलकर शक्ति के रूप में सीता का भी समावेश होता है और विष्णुपुराण में तो स्पष्ट और पूर्ण रूप से रामभक्ति के दर्शन होते हैं। अध्यात्म-रामायण के राम और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं

रह जाता। किन्तु रामभक्ति की प्राचीनता का प्रश्न भागवत पुराण के समय पर बहुत निर्भर करता है। उसमें रामभक्ति का विशद रूप से वर्णन है। भागवत पुराण का समय बहुत से विद्वान् ग्यारहवीं शताब्दि मानते हैं परन्तु गोपीनाथ कविराज ने उसे अधिक प्राचीन बतलाया है। बहुत से लोग उनके पक्ष में हैं। जो भी हो ग्यारहवीं शताब्दि में तो रामभक्ति अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में थी ही।

उत्तर भारतवर्ष पर जब मुसलमानों का पूरा आधिपत्य हो गया और विदेशी तथा विधर्मी शासन से जनता व्याकुल हो गई तब उसका ध्यान विशेष रूप से भगवद्भक्ति की ओर आकृष्ट हुआ। उसके हृदय में गौरव, स्वाभिमान और उत्साह के लिए कोई स्थान न रहा। अपने सामने अपने तीर्थ-स्थानों को अपवित्र होते और देव-मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण देखकर उसके हृदय में जो ग्लानि होती थी उसके रहते हुए भला वीरता के गीत कैसे गाये जा सकते थे। सारे देश में उदासी और निराशा का साम्राज्य फैल गया। केवल भगवान की कृपा और उनके नाम का स्मरण करने के अतिरिक्त उसके लिये कोई दूसरा उपाय न था। दूसरी ओर देश में विलक्षण संप्रदाय बन गये थे तथा सिद्ध, कापालिक एवं नाथपंथी योगियों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। उस समय का धार्मिकजीवन भक्ति से शून्य था। केवल तीर्थाटन और कर्मकांड में ही धर्म की समाप्ति मानी जा रही थी। भक्ति के अभाव में धार्मिक-जीवन नीरस हो गया था। उपरिनिर्दिष्ट साधु-समाज ने रहे सहे धर्म को भी निस्सार कह कर लोगों के हृदय को अवलम्बनहीन बनाना आरम्भ कर दिया। वे साधु प्रायः योगसाधन और रहस्य की बातें किया करते थे। इन सब का परिणाम यह हुआ कि सर्वसाधारण जनता के हृदय से भक्ति, प्रेम और सरलता का प्रायः लोप होने लगा।

वास्तविक धार्मिक जीवन के लिए कर्म, ज्ञान और भक्ति की सामान्यरूप से आवश्यकता होती है। इनके अभाव में धार्मिक जीवन पंगु हो जाता है। उस समय भी वही दशा थी। साधारण जनता शुभ कर्मों और भक्ति भाव से दूर हो अनेक प्रकार के अंध-विश्वासों में जकड़ी जा रही थी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सारा देश ही अज्ञान के अंधकार में आवृत्त था। धार्मिक जीवन की जिस परम्परा का ऋग्वेद के समय में आरम्भ हुआ था वह क्रमशः आगे

चली जा रही थी। पंडितमंडली पर इन बातों का प्रभाव नहीं पड़ा था और दर्शन उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन, अध्यापन और मनन अबाध रूप से देश में हो रहा था। परिणामस्वरूप जिस भक्ति की विमल सरिता आगे चलकर प्रवाहित हुई वह अपना रूप धारण कर चुकी थी। किंतु सब से बड़ी कमी यह थी कि पंडितसमाज का जनता से सीधा संबंध न था। जनता को इससे लाभ नहीं हो रहा था। इस बात की नितान्त आवश्यकता थी कि जनता उस भक्ति की सरिता में अभिषिक्त हो अपने हृदय को शीतल करती।

कवि जनता के हृदय को जहाँ भली भाँति समझता है, उसका प्रतिनिधित्व करता है, वहीं उसकी वाणी में वह अलौकिक शक्ति भी होती है जिससे जनता के हृदय को शक्ति, शांति और उत्साह मिलता है। भारतवर्ष की उस विषम अवस्था में भी यही हुआ। कवियों ने भक्ति की भावना को इसी प्रकार जनता के निराश हृदय में आशा का संचार करने के लिए जागृत किया। भक्ति की यह लहर इतनी तीव्र हो उठी कि उसमें न केवल हिंदू जनता ही प्रवाहित हुई अपितु वे मुसलमान भी प्रवाहित होने से न बच सके जिनके हृदय में सहृदयता थी। भक्तिकाल के मुसलमान कवियों की रचनाएँ इसका जीवित प्रमाण हैं उस समय के व्यथित उत्तर भारत को दक्षिण भारत के भक्त महात्माओं से जो भक्तिरूपी अमृत प्राप्त हुआ उसने संजीवनी का कार्य किया। इनके उपदेश ने सगुणोपासना का क्षेत्र तैयार किया। दूसरी ओर मुसलमानों के सम्पर्क और भारतीय निराकार ब्रह्मवाद के मेल से एक नये भक्ति-मार्ग का विकास हुआ। इस मार्ग के निर्माण में उन साधुओं की उपासना पद्धति का भी विशेष प्रभाव पड़ा जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। हठयोग सम्बन्धी बातों की चर्चा, कर्मकांड का विरोध, ईश्वर के नाम का निरन्तर जप और रहस्य के अन्वेषण का इनके उपदेशों में विशेष स्थान था। उस सामान्य भक्तिमार्ग का विकसित रूप हमें कबीर की रचना में मिलता है। यह सामान्य भक्तिमार्ग जिसमें निराकार ईश्वर की उपासना को स्थान मिला इस्लाम की शिक्षा के विरुद्ध नहीं बैठता था। इस भक्तिमार्ग की विशेषता यह थी कि इसमें ज्ञान और भक्ति को उचित स्थान मिला। परन्तु धार्मिक कृत्यों की ओर से

उदासीनता का भाव रहा। ईश्वर से प्रेम की वह भावना जिसमें दाम्पत्य प्रेम की प्रधानता है हिन्दी-साहित्य में मुसलमानों से आई ऐसा बहुतों का मत है क्योंकि सूफ़ी धर्म में यह बात पाई जाती है। भारतवर्ष में तो निर्गुण और निराकार ब्रह्म ज्ञान का विषय रहा है प्रेम का नहीं। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि जहाँ सूफ़ी धर्म में ईश्वर को स्त्री के रूप में और स्वयं अपने को पुरुष के रूप में मान कर प्रेम प्रकट किया जाता है, वहाँ कबीर ने भारतीय परम्परा के अनुसार अपने को ही स्त्री और ब्रह्म को पुरुष माना है। वे कहते हैं 'हरि मेरा पीउ मैं हरि की बहुरिया'। भारतवर्ष का भक्ति-मार्ग ब्रह्म के सगुण और साकार रूप को लेकर चला था। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि कबीर की प्रेम-भरी निर्गुण उपासना से जनता के हृदय में प्रेम का सञ्चार हुआ। इस वर्ग में मलूक, दादू, नानक आदि अनेक संत हुए।

मुसलमानों के भारतवर्ष में आने से पहले ही हिन्दुओं से उनका सम्पर्क आरम्भ हो गया था। उत्तर भारत में मुसलमानों का अधिकार स्थापित हो जाने के उपरान्त तो भारतवर्ष के धार्मिक विचारों पर कुछ न कुछ प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था और पड़ा भी। भारतवर्ष में जो सूफ़ी महात्मा आए उन पर भी तत्कालीन भारतीय वातावरण का प्रभाव पड़ा। सूफ़ी विचारों के अनुयायी साधक कवियों ने सांसारिक प्रेम को अपनी कविता में वर्णन का विषय बनाकर उसी के बहाने ईश्वर-प्रेम को अपनी कविता में स्थान दिया। इन कविताओं का साहित्यिक महत्व है। कवियों ने कल्पित कहानियों का आश्रय लिया है किन्तु उन कहानियों का आधार और वातावरण नितान्त भारतीय है। मनुष्य का पशु, पक्षी और लता वृक्षों से जो पारस्परिक और सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध दिखाया गया है। यह भारतीयता का द्योतक है। इन कवियों में सब से ऊँचा स्थान मलिक मुहम्मद जायसी का है। इनके अतिरिक्त और भी कवि हुए हैं जिनका साहित्य में स्थान है; जैसे कुतबन, मंझन और उसमान।

दक्षिण के जिन महात्माओं ने उत्तर भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार किया उनमें से वल्लभाचार्य जी का बड़ा ऊँचा स्थान है। वे जहाँ परम भक्त थे वहीं धुरंधर विद्वान्। इन्होंने श्रीकृष्ण को ही

परब्रह्म मानकर एक नये दृष्टिकोण से अपने धर्म का प्रतिपादन किया। इन्होंने सगुण ब्रह्म को ही ब्रह्म का असली रूप और प्रेम को ही उसका साधन बताया। कृष्णभक्त-कवियों ने इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर पद-रचना की। इन भावनाओं से युक्त श्री कृष्ण किसी महाकाव्य के नायक नहीं हो सकते थे। श्रीकृष्ण की बाललीला और उनका राधा के प्रति प्रेम महाकाव्य की सामग्री उपस्थित नहीं करता। यही कारण है कि कृष्ण को लेकर हिंदीसाहित्य में स्फुट पद्यों की रचना हुई। रामचरितमानस जैसे उच्चकोटि के प्रबंध काव्य लिखने वाले गोस्वामी तुलसीदास जी ने कृष्ण पर कुछ पद्य लिखे हैं। उन्होंने भी उन पर कोई प्रबंध काव्य नहीं लिखा। वस्तुतः देखा जाय तो कृष्ण का लोकरक्षक और धर्म-संस्थापक रूप ही लोगों के सामने न आया। परन्तु जो कुछ भी लिखा गया वह प्रेम और भक्ति से परिपूर्ण है। सूरदास, मीराबाई, नन्ददास, रसखान आदि कवियों की रचनाओं में जो आकुलतापूर्ण प्रेम के दर्शन होते है, उन्हीं के कारण हिंदी का साहित्य इतना सरस और गौरवपूर्ण है। राजनीतिक परिस्थिति के कारण उत्पीड़ित जनता को जो शांति मिलनी चाहिये थी वह निर्गुण कवि न दे सके। उनकी रचना में वह सरसता न थी, उसमें तन्मयता का अभाव था। दोषदर्शन और सुधार की भावना के साथ भक्ति का इतना मेल हो भी तो नहीं सकता। श्रीकृष्ण के प्रेमपूर्ण वर्णन से जहाँ एक ओर जनता का व्यथित हृदय शांत हो रहा था वहीं दूसरी ओर हिंदी कवियों के गौरव गोस्वामी तुलसीदास जी एक प्रबंध काव्य लिखकर मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र का वह स्वरूप जनता के सामने रख रहे थे, जिसने जनता के हृदय में साहस बल और उत्साह का संचार किया। लोगों के हृदय से निराशा दूर हुई, कर्तव्य का ज्ञान हुआ और जीवन की वास्तविकता की ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ।

—o—

द्वितीय अध्याय

गोस्वामी तुलसीदास जी

गोस्वामी तुलसीदास जी का आविर्भाव हिंदी साहित्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। हिंदी साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान

करने वाले कलाकारों में उनका अन्यतम स्थान है। काव्य की प्रत्येक शैली में रचना करके उन्होंने उसका परिमार्जन और परिष्कार किया। उनके रामचरितमानस को हम हिंदी का सर्वश्रेष्ठ प्रबंध-काव्य कह सकते हैं। उसके पीछे प्रबंध-काव्य की ओर कवियों का ध्यान अधिक आकर्षित हुआ। पहले भी कई प्रबंध-काव्य लिखे गये थे पर उनमें प्रायः सभी कवि असफल रहे। वीरगाथा-काल में पृथ्वीराजरासो ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ कहा जा सकता है, पर उसकी प्रामाणिकता में ही संदेह है। दूसरे उसमें अनेक प्रबंध-दोष भी हैं। व्रजभाषा में भी कई प्रबंध-काव्य लिखे गये पर अभी असफल रहे, इसके लिये अवधी ही उपयुक्त प्रमाणित हुई। तुलसीदास जी से पहिले भी अवधी में प्रेम-गाथाकारों ने उत्कृष्ट प्रबंध-काव्यों की रचना की थी। तुलसीदास जी ने काव्य की उस परंपरा को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। कविकर्म की पूर्ति फुटकर पद्य रचना में भी हो सकती है पर कला कृति का उत्कृष्ट रूप प्रबंध-काव्य ही है। महाकवि तुलसीद स इस अर्थ में सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। भाषा का सुन्दरतम रूप सूर के बाद तुलसी में ही दिखाई पड़ा। नन्ददास ने भी सुन्दर भाषा का प्रयोग किया है। सूर और नन्ददास दोनों ही व्रजभाषा के कवि थे उ हें व्रज माधुरी मुग्ध किये थी। तुलसीदास जी ने अवधी में उत्कृष्ट रचनाएँ कीं उन्होंने अवधी को परिष्कृत कर उसे और भी साहित्यिक बना दिया। इतने बड़े कलाकार के संबंध में जिसने साहित्य-क्षेत्र में भाषा, भाव और प्रबंध-रचना की दृष्टि से अपना उच्चतम स्थान बना लिया हो, हम अब तक बहुत कुछ अनभिज्ञ हैं उनके जीवन के संबंध में कोई भी बात पूर्ण निश्चित नहीं। विद्वानों ने इधर काफ़ी अन्वेषण किया है तथा प्रचलित किंवदन्तियों की अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य से परीक्षा करके कुछ निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न किया है। पर अभी तक विद्वान् एकमत नहीं हो सके हैं।

अंतःसाक्ष्य से तात्पर्य उन घटनाओं से है जिनका उल्लेख प्रसङ्ग-वश उनकी रचनाओं में हो गया है और जिनसे उनके जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है। जनश्रुति है कि तुलसीदास अशुभ मुहूर्त में जन्म लेने के कारण माता-पिता के द्वारा परित्यक्त कर दिये गये थे इसकी ध्वनि उनकी रचना में भी मिलती है।

"मात पिता जग जाई तज्यौ विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई ।" (कवितावली)

"तनु-जन्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यौ मातु पिताहूँ ।" (विनय पत्रिका)

वास्तव में अंतःसाक्ष्य से अनुमोदित किंवदन्तियाँ ही विश्वसनीय हैं। बहिःसाक्ष्य के आधार पर उनके जीवन के संबंध में कोई मत स्थिर करना उचित नहीं क्योंकि वे प्रायः सभी अप्रामाणिक हैं। बहिःसाक्ष्य से तात्पर्य उनके संबंध में लिखे गये जीवनचरितों से है अथवा अन्य कवियों की रचनाओं में आये हुए तुलसी संबंधी उल्लेखों से। जैसे रहीम का निम्नलिखित दोहा इस बात का समर्थन करता है कि तुलसी की माता का नाम हुलसी था।

"सुरतिय नरतिय नागतिय सब चाहति अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय ॥"

तुलसी के संबंध में लिखे गए जीवनचरित क्यों अप्रामाणिक हैं इस बात पर हम प्रसंग आने पर विचार करेंगे यहां हम अंतःसाक्ष्य बहिःसाक्ष्य अथवा किंवदन्तियों के आधार पर उनके जीवन की बहु-सम्मत घटनाओं का क्रमिक उल्लेख करेंगे।

अपने संबंध में कुछ भी लिखना भारतीय साहित्यकारों की प्रकृति के विरुद्ध रहा है। औरों ने भी उनके सम्बन्ध में बहुत कम लिखा है। किसी महान् कलाकार का जीवन कैसा था—उसके सगे सम्बन्धी तथा सुहृद्गण अपना क्या महत्व रखते थे, वह किस देश में और किस समय पैदा हुआ था, ये ऐसे प्रश्न हैं जो प्रत्येक साहित्य के विद्यार्थी के मस्तिष्क में उठते हैं। इन प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर नहीं मिलता, अनुमान को लेकर ही हमें चलना पड़ता है। यही बात गोस्वामी तुलसीदास जी के संबंध में भी है। उनका जन्म कब हुआ था इसका उल्लेख उन्होंने कहीं भी नहीं किया। बाबा बेनीमाधवदास के गोसाईंचरित और बाबा रघुनाथदास के तुलसीचरित में उनका जन्म सम्वत् १५५४ दिया है। गोसाईंचरित में तो 'श्रावण शुक्ला सप्तमी' तिथि भी दी है। प्रसिद्ध रामायणी पंडित रामगुलाम द्विवेदी तथा ग्रियर्सन ने भक्तों की जनश्रुति के आधार पर उनका जन्म सम्वत् १५८९ माना है, इस प्रकार उनकी आयु १२६ वर्ष अथवा ९१ वर्ष ठहरती है।

इनका जन्म उच्च कुल में हुआ था, जैसा कि इनकी रचनाओं से स्पष्ट है—

"दियो जनम सुकुल सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।"
"भलि भारत भूमि भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहि कै।
जो भजै भगवान सयान सोई, तुलसी हठ चातक ज्यों गहि कै॥"

उनकी माता का नाम हुलसी था, रहीम ने कहा है—

"सुरतिय नरतिय नागतिय सब चाहति अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरै तुलसी सों सुत होय।"

उनके पिता के नाम का उल्लेख न तो उनके ग्रन्थों में ही मिलता है और न अन्य किसी ने ही उनका प्रामाणिक उल्लेख किया है। किंवदन्तियों के अनुसार इनका सरजूपारी ब्राह्मण होना प्रसिद्ध है। दोनों जीवनचरितों में भी यही माना गया है गोसाईं चरित के अनुसार तो इनके पिता आत्माराम दूबे थे जो दूबेपुरवा में रहते थे "तुलसी परासर गोत दूबे पतियौजा के।" तुलसी चरित के अनुसार ये गाना के मिश्र थे। इनके पुत्र मुरारी मिश्र राजापुर के निवासी थे। इन दोनों चरितों को अप्रामाणिक मान लेने पर भी उनके सरयूपारी ब्राह्मण होने में तो कोई संशय नहीं रह जाता। जिस समय तुलसी काव्य-क्षेत्र में अवतरित हो रहे थे—ब्रज-भाषा ही काव्य की सामान्य भाषा स्वीकृत थी। उसी का अध्ययन करके काव रचनाओं में प्रवृत्त होते थे। तुलसीदास की मातृ-भाषा अवधी थी इसीलिये उन्होंने अपनी रचनाएँ अवधी में कीं और सामान्यतया स्वीकृत काव्य-भाषा ब्रज में भी अपना चमत्कार दिखाया। इधर कुछ लोगों ने उनका जन्मस्थान सोरों (जिला एटा) सिद्ध करके उन्होंने सनाढ्य ब्राह्मण प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। पर किसी पछाहीं कवि ने अवधी में रचना करने का साहस नहीं किया। अवधी भाषा के कवि अवधवासी ही थे। यदि वे सोरों के निवासी तथा सनाढ्य होते तो उन्हें काव्य भाषा ब्रज को छोड़कर अवधी में काव्य-रचना करने की क्या आवश्यकता थी? कहा जा सकता है कि अवधी में प्रबन्ध काव्यों की सफल योजना को देख कर तथा राम की मातृ-भूमि अवध की भाषा होने के कारण ही सनाढ्य तथा ब्रजभाषा-भाषी होते हुए भी उन्होंने अवधी का भी अध्ययन किया और उसमें रचना की। पर अवधी के स्थानीय प्रयोगों का अधिक प्रयोग उनका अयोध्या के पास का निवासी होना ही सिद्ध करता है। अयोध्या के पास सरयूपारी ब्राह्मण ही

प्रायः रहते हैं। विष के लिये 'माहुर', सच के लिए 'फुर', आपके लिये 'राउर', रसोइया के लिये 'सुआर' आदि ऐसे प्रयोग हैं, जो अयोध्या के आसपास और बाँदा जिले में बोले जाते हैं तुलसीदास की रचनाओं में ऐसे प्रयोग अधिक मिलते हैं, 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' में तो ठेठ अवधी का प्रयोग हुआ है। जो भिन्न प्रांतवाले कवि के लिये असम्भव सा ही है।

जन्मस्थान के सम्बन्ध में मतभेद होने का मुख्य कारण तुलसी का यह वाक्य है—

"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥"

सूकरखेत को लेकर मतभेद है। सोरों ही शूकरक्षेत्र है, वहीं नरसिंह जी का मंदिर है जो उनके गुरु थे। जो 'बन्दौ गुरु-पद-कंज कृपासिन्धु नर रूप हरि' से स्पष्ट है। तुलसीदास का घर भी वहाँ एक कसाई के हाथ में है और वहाँ की मिट्टी कर्णमूल रोग को अच्छा कर देती है। तुलसी शुक्ल थे "दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारिको" इस प्रकार किंवदन्तियों के आधार पर ला० सीताराम व पं० रामनरेश जी त्रिपाठी ने सोरों (एटा) को ही उनका जन्मस्थान माना है एवं शब्दों तथा मुहावरों के कुछ स्थानीय प्रयोग भी ढूँढ़ निकाले हैं।

'स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक, औचक उलटि न हेरो' में तिजरा से तिजारी नहीं पसली चलन का अर्थ बताया जाता है जो सोरों के आस-पास बोला जाता है। उसके लिए वहाँ आटे का पुतला बनाकर कुछ टोटका किया जाता है, उस पुतले की ओर फिर मुड़कर देखना मना है। इस प्रकार के स्थानीय प्रयोगों एवं किंवदन्तियों के आधार पर उन्हें सोरोंवासी सनाढ्य बताया गया। इस मत का मुख्य आधार गोस्वामी गोकुलनाथ कृत 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' है।

'वार्ता' में गोसाईं जी को प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि नन्ददास का बड़ा भाई बताया गया है। नन्ददास सनाढ्य थे पर इस बात में केवल इतना ही तथ्य है कि तुलसीदास नन्ददास के गुरुभाई थे जैसा कि 'गोसाईं चरित' में भी लिखा है। इस मत की पुष्टि में दी गई युक्तियां ठीक नहीं है। किंवदन्तियों पर बिना कोई अन्य प्रमाण

मिले पूरा विश्वास कर लेना युक्तिसंगत नहीं और स्थानीय प्रयोगों की बात भी कुछ अनिश्चित सी है। हम पीछे कुछ ऐसे प्रयोगों का निर्देश कर चुके हैं जिनसे उनका अयोध्या के निकट का निवासी होना प्रमाणित होता है। सोरों के स्थानीय प्रयोग संख्या में अपेक्षाकृत कम भी हैं। संभव है कि सत्संग के कारण अथवा विभिन्न स्थानों की यात्रा के अवसर में वे ऐसे प्रयोगों का ज्ञान प्राप्त कर सके हों। तिजरे वाला प्रमाण भी ठीक नहीं क्योंकि "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" की अप्रामाणिकता सिद्ध हो चुकी है। इसके रचयिता गोसाईं गोकुलनाथ जी का चरित्र भी इसमें लिखा है। किसी भक्त के लिए स्वयं अपनी गुणगाथा लिखना कठिन है। निश्चय ही उनके किसी शिष्य ने इसे बाद में बढ़ाया है। इसके संस्करण भी कई प्रकार के मिलते हैं जिससे उसकी प्रामाणिकता पर सन्देह होता है। यह औरंगज़ेब के बाद लिखा गया है। इसके आधार पर तुलसीदास जी को नंददास का भाई मानकर उन्हें सनाढय तथा सोरों के पास रामपुर का निवासी मान लेना युक्तियुक्त नहीं।

वास्तविक सूकरक्षेत्र गोंडा जिले में सरजू के किनारे एक पवित्र तीर्थ है जहां प्रतिवर्ष मेला लगता है। यहीं पर तुलसीदास जी ने गुरुमुख से राम की पावन कथा का श्रवण किया था। 'माहुर' 'फुर' आदि स्थानीय प्रयोगों को देख कर भी यही अनुमान होता है। सब से प्रबल प्रमाण इस मत में अंतःसाक्ष्य का है। भगवान की सेवा और उनका सामीप्य-लाभ भक्त का लक्ष्य होता है। सूरदास ने भी अपने को भगवान कृष्ण के पास पहुँचाया है। गोवर्धन पर श्रीनाथ जी के मन्दिर में सूरदास रहा करते थे वहीं से उन्होंने अपनी भावना द्वारा कृष्णजन्म पर नन्द के द्वारे पहुँचने की कल्पना की है :—

> "नन्द जू मेरे मन आनन्द भयो हौं गोवर्धन तें आयो,
> तुम्हरे पुत्र भयो मैं सुनि के, अति आतुर उठि धायो।"

इसी प्रकार 'मानस' में भी जब राम, सीता, लक्ष्मण और निषाद प्रयाग से चित्रकूट जाते हुए जमुना पार करते हैं :—

> "तेहि अवसर एक तापस आवा, तेज पुंज लघु वयस सुहावा॥
> कवि अलषित गति वेष विरागी, मन क्रम वचन रामअनुरागी॥"

"सजल नयन तन पुलक निज, इष्ट देव पहिचानि ।
परेउ दण्ड जिमि धरणि तल, दसा न जाय बखानि ॥"

इस प्रसंग में तुलसीदास जी ही की छाया प्रतीत होती है, विचार करने पर तीन बातें इस प्रसंग में विशेष ज्ञात होती हैं।

१. यह प्रसंग कथावस्तु से संबंधित नहीं है और न उसका उपकारक ही है। वह विरागी तापस एकाएक आता है। कहाँ चला जाता है, कौन है, इसका कुछ भी पता नहीं मिलता।

२. राम के दर्शन करने के लिए जहाँ भी ब्राह्मण तपस्वी आए हैं, राम ने स्वयं भी उनको प्रणाम किया है। इस प्रसंग में तापस तुलसीदास जी ही दण्डवत् करता है। राम उसको प्रणाम नहीं करते केवल हृदय से लगा लेते हैं।

"राम सप्रेम पुलकि उर लावा, परम रंक जनु पारस पावा ॥
मनहु प्रेम परमारथ दोऊ, मिलत धरे तनु कह सब कोऊ ॥"

भगवान प्रणाम करें यह तुलसीदास जी जैसे भक्त को अभीष्ट न था।

३. वह तापस 'सजल नयन तन पुलक' का अनुभव करता है, तुलसीदास जी के विचार से भक्त भगवान के शील स्वभाव पर मुग्ध होता है तभी उसका अनुराग दृढ़ होता है :—

"सुनि सीतापति सील सुभाऊ,
मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ।" (विनय पत्रिका)

मनुष्यता के लिए वह आवश्यक समझते थे कि मनुष्य भगवान् के गुणों पर मुग्ध होकर उनकी ओर अपनी वृत्तियों को रमा दे। शील की साक्षात् प्रतिमूर्ति राम को सामने पाकर वह तापस (तुलसीदास) यदि 'सजल नयन तन पुलक' का अनुभव करने लगा तो आश्चर्य ही क्या! इष्टदेव में भक्त का यही अनुराग वे चाहते थे।

ये राजापुर के निवासी थे और इष्टदेव को अपने पास आया जान इन्होंने कथाप्रसंग के बीच भावना में अपने को वहां उपस्थित किया है। इसलिए अंतःसाक्ष्य के आधार पर इनका जन्म-स्थान राजापुर ही प्रमाणित होता है। यहीं से गोंडा जिले का शूकरक्षेत्र भी निकट है। यहीं उन्होंने मानस का श्रवण किया था। यहीं वास्तविक शूकरक्षेत्र है। सरयूपारीण ब्राह्मण ही यहाँ रहते हैं अतः इनका सरयूपारी ब्राह्मण होना ही संभव है।

इनका नाम रामबोला था, 'राम को गुलाम नाम रामबोला राम राख्यो।' बाबा रघुवरदास के तुलसीचरित में इनका नाम तुलाराम लिखा है। इनका बाल्यकाल बड़े संकट में बीता। जनश्रुति है कि अशुभ मुहूर्त में जन्म लेने के कारण इनके माता पिता ने इन्हें त्याग दिया था जैसा कि उनकी रचनाओं से भी ध्वनित होता है—

"मात पिता जग जाई तज्यो विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।"
"तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मात पिता हू।" (कवितावली)

निराश्रय तुलसीदास जी की दशा देखकर दुःख भी दुखित होता था।

"स्वारथ परमारथ साथिन सों भुज उठाय कहौं टेरे।
जनक जननि तज्यो जनमि करम बिनु विधि सिरज्यो अवडेरे॥
मोहुँ से कोउ कहत राम को, सो प्रसंग केहि केरे।
फिरेउ ललात बिन नाम उदर लगि दुखहु दुखित मोहि हेरे॥' (विनय पत्रिका)

मुनिया दासी इन्हें लेकर अपनी ससुराल चली गई थी और ५ वर्ष तक उनका पालन-पोषण करती रही। मरते समय उसने इन्हें अपनी सास चुनिया को सौंप दिया था। बाबा नरहरिदास को तुलसीदास इसी दासी के पास मिले थे। इस प्रकार बचपन से ही भाग्यहीन की भाँति इनको स्थान-स्थान पर भटकना पड़ा। कुछ लोगों ने इस पर यह भी कल्पना की कि वे भीख मांगते फिरते थे।

'द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।
हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख दोष दलन छम
कियो न सभाषन काहूँ।'

विचार करने पर ज्ञात होता है कि इस उद्धरण का तात्पर्य यह नहीं है कि वे भीख मांगते फिरते थे। भगवान् से विनय करते हुए जब वे याचना करते हैं तब वे कहते हैं कि मैं द्वार-द्वार पर टुकड़े मांगता फिरा, भगवान् के सम्मुख पहले ही याचना की होती तो क्यों मुझे सब के आगे हाथ पसारना पड़ता। इसमें संदेह नहीं कि उनका बाल्यकाल कष्ट में ही व्यतीत हुआ, इन्हें कारणवश माता पिता के स्नेहमय हाथों की छाया प्राप्त न हो सकी थी।

बाबा नरहरिदास इनके गुरु कहे जाते हैं और उनका स्मरण भी इन्होंने मानस के आरम्भ में किया है :—

"बंदउँ गुरुपद कंज, कृपासिंधु नररूपहरि।
महामोहतमपुंज जासु बचन रविकरनिकर॥"

नरहरिदास ही इन्हें अपने साथ रामानंद के पास ले गए। नरहरिदास के संरक्षण में इनकी शिक्षा दीक्षा प्रारम्भ हुई। कुशाग्र-बुद्धि यह थे ही। अध्ययन-काल में ही इन्होंने अपूर्व प्रतिभा और मेधा शक्ति का परिचय दिया बहुत शीघ्र ही इन्होंने नाना पुराण निगमागम का ज्ञान प्राप्त कर लिया। अध्यापक शेष सनातन, जो उस समय के बहुत ही प्रसिद्ध विद्वान् थे, से भी इन्होंने शिक्षा प्राप्त की। शास्त्रों का अध्ययन बहुत कुछ इन्हीं के पास बैठकर किया। बाबा नरहरिदास जी ने शूकरक्षेत्र में इन्हें राम की पावन कथा का श्रवण कराया, उस समय यह बालक ही थे "तब अति रहेउँ अचेत।" राम की मधुर कथा से वे उसी समय से प्रभावित हो गये थे। राम के प्रति उनका अनुराग जागृत हो चला था। पर मादक युवावस्था में भक्ति के पूर्ण विकास का अवसर न था। उस समय राम-भक्ति का अंकुर ही जम सका जो आगे चल कर इनकी पतिव्रता स्त्री की मधुर, पर झिड़की भरी फटकार से पल्लवित हुआ। तुलसी का दृढ़ और स्नेह भरा अनुराग रमणी से राम की ओर उन्मुख हो गया। लौकिक प्रेम की तीव्रता आध्यात्मिक प्रेम की तीव्रता में परिणत हो गयी।

१५ वर्ष बाद जब वे अपनी शिक्षा पूरी करके वापस लौटे तब यमुना पार के किसी भारद्वाज गोत्रवाले ब्राह्मण की कन्या से इनका विवाह हुआ। तुलसी-चरित्र में लिखा है कि इनके तीन विवाह हुए थे। तीसरी पत्नी का नाम बुद्धिमती था और उसके यहाँ इनको दहेज में ६ हज़ार रुपये मिले थे। इसी स्त्री की फटकार पर वे विरक्त हुए थे। पर तुलसी-चरित्र की तीन विवाह वाली बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता। एकपत्नीव्रत का उपदेश करने वाले बाबा तुलसीदास ने तीन विवाह किये हों यह सम्भव नहीं जान पड़ता। और कहीं इसका कोई उल्लेख नहीं है। तुलसी-चरित्र को प्रामाणिक भी नहीं कहा जा सकता। इसके केवल ५३ पद ही सामने आए हैं ज्येष्ठ १९६९ की मर्यादा में इन्द्रदेव नारायण ने इस ग्रन्थ की सूचना दी थी पर तब से यह ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया। किसी बड़े ग्रन्थ के जिसमें १३३९६२ पदों के होने का दम भरा जाता हो केवल ५३ पदों को देखकर कुछ निर्णय नहीं किया जा सकता। दूसरे इसमें दी हुई घटनाएँ इतिहास से भी विरुद्ध पड़ती हैं, अतः इनका मत विश्वसनीय नहीं है।

मत वैचित्र्य इस युग की विशेषता है किन्हीं आलोचकों ने

'मेरे व्याह न बरेखी जाति पाति ना चहत हौं।'

को देखकर यह अनुमान लगाया कि उनका विवाह हुआ ही न था। अपने अनुमान की पुष्टि में तुलसीदास द्वारा की गई स्त्री-जाति की निन्दा को प्रस्तुत किया 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी'। उनका कहना है कि वे जन्म भर वैरागी रहे अतः स्त्रियों के संपर्क में न आने के कारण वे उनके सद्‌गुणों से परिचित न हो सके और इसी कारण उन्हें कहना पड़ा 'प्रमदा दुख की खानि'। परन्तु यह अनुमान गलत है। उनके विवाह के सम्बन्ध में इतनी बद्धमूल किंवदन्ती पर अविश्वास करना युक्ति-संगत नहीं और फिर अंतःसाक्ष्य से भी यह प्रमाणित होता है कि पत्नी के उपदेश से इन्हें वैराग्य हुआ था। कहते हैं कि एक बार वृद्धावस्था में ये राजापुर गए तब इनकी पत्नी ने इनके साथ चलने का आग्रह किया। गोसाईं जी ने उनको साथ लेना अपने आश्रम-धर्म के विरुद्ध समझा तब उनकी पंडिता पत्नी ने कहा :—

"खरिया खरी कपूर लौं उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहिं मेलि कै अचल करहु अनुराग॥"

दोहावली में यह दोहा इस प्रकार है—

"खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोंहि मेलि कै विमल विवेक विराग।"

'मेरे व्याह न बरेखी जाति पाति ना चहत हौं।' कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि मुझे संसार से कोई मतलब नहीं है संसार भले ही मुझे बहिष्कृत कर दे, मैं अपनी धारणा नहीं बदल सकता। मुझे व्याह तो करना नहीं है। *भगवान् की भक्ति और तज्जन्य आनन्द का अनुभव ही उनकी दिनचर्या थी, उसमें भी जो बाधक बने उसकी उपेक्षा कर देना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। भगवान् के प्रेम में मतवाली मीरा को जब उसके घरवालों ने कष्ट देना आरम्भ किया तब तुलसीदास जी ने उसके पक्ष में लिख भेजा था—

*प्रसिद्ध इतिहासज्ञ गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा ने यह प्रमाणित कर दिया है कि मीरा का परलोकवास १६०३ में हुआ था। इस प्रकार मीरा को पत्र लिखने वाली किंवदन्ती असत्य सिद्ध होती है। यह पद विनयपत्रिका में आया है।

"जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये तिन्हें कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही।
नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं॥"

वैरागी होने के कारण उनके हृदय में स्त्री-जाति के प्रति सद्-भावना न थी यह कहना भी गलत है, क्योंकि मानस में स्त्री-चरित्रों का जितना सुन्दर सृजन तुलसी ने किया है संसार के साहित्य में ऐसे स्त्री-चरित्रों की सृष्टि अभी तक नहीं हो सकी। सीता अद्वितीय है। वैसे भी तुलसीदास जी ने स्त्री-जाति के महत्व को स्वीकार किया है मंदोदरी का उपदेश न मानने से ही रावण का पतन हुआ। बालि ने सहधर्मिणी तारा का उपदेश न सुना वह अपने बल के मद में भूला हुआ था। राम के मुख से तुलसीदास जी ने उसी स्थान पर कहलाया है—'नारि सिखावन करसि न काना'। इससे ज्ञात होता है कि तुलसीदास जी ने स्त्री-जाति के अधिकार को स्वीकार अवश्य किया है।

उन्होंने स्त्री-जाति की निन्दा नहीं की। वैरागी होने के कारण काम-वासना को अध्यात्म मार्ग में बाधक समझ कामवासना को प्रोत्साहित करने वाले रमणी रूप की निन्दा उन्होंने की है। माता बहिन और पुत्री के रूप में उन्हें आदर प्रदान किया है। सहधर्मिणी के रूप में भी उन्होंने नारी जाति के प्रति अपनी भावना के पुष्प चढ़ाए हैं। सीता प्रत्यक्ष उदाहरण हैं, सीता ही राम के धर्मार्थ काम मोक्ष की सहायक थीं, उन्होंने केवल 'प्रमदा दुख की खानि' कहा है। 'नारि सहज जड़ अज्ञ' आदि में स्त्रियों की अतिशय भावुकता को लेकर मूर्ख कहा गया है। जिस भावुकता के वश हो वे मर्यादा को उल्लंघन कर बैठती हैं, जैसे धर्म-भीरु सीता ने अतिथि-धर्म के नाश के भय से लक्ष्मण की मर्यादा का उल्लंघन कर आपत्ति मोल ली। यह उनकी निन्दा नहीं है। निंदात्मक वाक्य सिद्धान्त वाक्य भी नहीं है प्रायः नीच पात्रों द्वारा ही कहाये गये हैं अथवा उस प्रसंग में वे अनुचित नहीं प्रतीत होते। इसलिये यह अनुमान लगाना कि उनका विवाह ही न हुआ था मत-वैचित्र्य ही कहा जा सकता है। इसमें कुछ तथ्य नहीं है।

एक नया मत इधर और खड़ा हो रहा है, पत्रों में भी इसकी काफी चर्चा है। तुलसीदास की पत्नी का नाम रत्नावली था और

वह स्वयं कवयित्री थीं—उनकी रचनाएँ भी मिली बताई जाती हैं, परन्तु अभी इस मत को विद्वानों का समर्थन प्राप्त नहीं हो सका है। जब तक पूर्ण सामग्री उपलब्ध न हो जाय तब तक इस विषय में कोई निश्चित मत निर्धारित नहीं किया जा सकता।

इनका पत्नी-प्रेम प्रसिद्ध है। गोसाईं जी की हृदय-वीणा के तार स्नेह के तंद्रिल स्पर्शों से तरङ्गित थे, उनसे केवल एक ही तरङ्ग उठती थी, वह थी गम्भीर प्रेम की तरंग। उनके हृदय में यदि वासना के स्वप्न थे तो प्रेम का आह्लाद भी था। वे तन्मय हो रहे थे। तन्मयता के इन्हीं क्षणों में पत्नी के मायके चले जाने पर वे बढ़ी हुई नदी पार कर ससुराल जा पहुंचे। उनकी पत्नी को यह देखकर खेद हुआ और उसके मुख से ये वाक्य निकल गये जिन्होंने तुलसीदास जी के लिए मूल मन्त्र का काम दिया। उसने दो दोहे कहे थेः—

"लाज न लागत आप को, दौरे आएहु साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ।
अस्थि चर्म मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ, होति न तौ भवभीति॥"

तुलसीदास की हृदय-वी झंकृत हो उठी। उनकी वीणा के तार टूटे नहीं केवल एक अपूर्व और अमर-झंकार पैदा करके रह गये। यह झंकार थी राम में अचल अनुराग की। हृदय के साथ विचार का योग हुआ। हृदय की उस वीणा से जो,रामभक्ति का स्वर निकला वह समस्त हिंदूजीवन को अनुप्राणित तथा राममय करने में समर्थ हुआ वे काशी आकर विरक्त हो गये। उसके बाद कुछ दिन अयोध्या में भी रहे, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, द्वारिका, बद्रिकाश्रम, मानसरोवर आदि स्थानों तक ये पहुँचे थे तीर्थाटन में इन्होंने साधु संतों की संगति की और इस प्रकार उनके उपदेश को पाकर इन्होंने अपने वैराग्य और ज्ञान को और भी दृढ़ बनाया। चित्रकूट काशी एवं अयोध्या में बहुत दिनों तक रहे। चित्रकूट इन्हें सब से अधिक प्रिय था। वहीं पर इनके इष्टदेव ने चिरकाल तक निवास किया था। भक्त के लिए भगवान् की प्रत्येक वस्तु प्रिय होती है। रामचरणांकित चित्रकूट की रम्य वनस्थली ने इनकी चित्त-वृत्ति को अपनी ओर आकर्षित कर लिया तो इसमें आश्चर्य ही क्या!

"अब चित चेत चित्रकूटहि चलु।"
भूमि बिलोकु राम-पद-अंकित बन बिलोकु रघुबर बिहार थलु।"

तुलसीदास जी चित्रकूट में रहे भी बहुत दिन तक थे। चित्रकूट में ही मृगया के लिए जाते हुए राजकुमारों के वेष में राम लक्ष्मण इनके सामने से निकल गए पर तुलसीदास जी ने पहचाना नहीं। मृग के पीछे दौड़ते हुए भगवान् की झाँकी इनको सब से अधिक प्रिय थी।

'सुभग सरासन सायक जोरे।'
खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे।
जटा मुकुट सिर सारस-नयननि भौहैं तकत सुभौंह सकोरे॥"

इसी से राम ने इन्हें इस रूप में दर्शन दिए थे। दूसरी बार तो चंदन माँगने के लिए आए जिसके संबंध में यह दोहा प्रचलित है:—

"चित्रकूट के घाट पर, भई संतन की भीर।
तुलसिदास चंदन घसैं, तिलक देत रघुबीर॥"

चित्रकूट तुलसीदास के लिये तीर्थराज था। प्रयाग में भी ये बहुत समय तक रहे। मथुरा वृन्दाबन आदि तीर्थों की यात्रा भी इन्होंने की थी। कुछ लोगों का अनुमान है कि श्रीकृष्ण गीतावली की रचना मथुरा के आस पास ही कहीं हुई थी, कहा जाता है कि इन्होंने १६ वर्ष यात्रा की।

रचनायें:—

गोस्वामी जी की रचनाओं के सम्बन्ध में भी बड़ा मतभेद है। उनके बनाए हुए ग्रन्थों की एक बड़ी संख्या बताई जाती है। पर आधुनिक विद्वानों ने जो मत स्थिर किया है उसी का निर्देश हम करेंगे। काशी नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित तुलसी-ग्रन्थावली में १२ ग्रन्थ ही प्रामाणिक माने गये हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने 'तुलसी संदर्भ' में 'तुलसी सतसई' एक १३ वां ग्रन्थ और माना है। पर वास्तव में यह तुलसीदास जी का कोई अलग ग्रन्थ नहीं है। जिस प्रकार 'रामाज्ञा' और 'मानस' से कुछ दोहों का संकलन कर दोहावली की योजना उनके किसी शिष्य ने की है उसी प्रकार 'सतसई' का संकलन भी हुआ होगा। इसके अधिकांश दोहे तुलसीदास के 'दोहावली' आदि ग्रन्थों में आ गए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इसको पृथक् ग्रन्थ मान लेना अनावश्यक ही है।

'गोसाईं चरित' में भी इसका अलग उल्लेख कर उनके रचे १३ ग्रन्थ माने हैं। बाहुक को भी कवितावली से पृथक् रखकर डा० माताप्रसाद जी ने ग्रन्थ संख्या १४ लिखी है। सनातनधर्म कालेज कानपुर के प्रोफेसर पं० सत्यनारायण पांडेय को 'कुंडलिया रामायण' की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति भी प्राप्त हुई है; उनका कहना है कि वह प्रति प्रामाणिक है। उसके समर्थन में उन्होंने और भी प्रमाण संगृहीत किए हैं जो विश्वसनीय हैं। पर अभी तक वह प्रकाश में नहीं आई। अतः निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है। स्वर्गीय आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल के मतानुसार बारह ग्रन्थों को ही प्रामाणिक मानकर अगले अध्यायों में उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा। उन ग्रन्थों के नाम अब तक के बहुसम्मत रचना-क्रम के अनुसार निम्नलिखित हैं:—*

१ रामललानहछू, २ जानकी-मंगल, ३ रामाज्ञा-प्रश्न, ४ वैराग्य संदीपिनी, ५ रामचरितमानस, ६ पार्वती-मंगल, ७ गीतावली, ८ कृष्णगीतावली, ९ विनयपत्रिका, १० बरवैरामायण, ११ दोहावली, १२ कवितावली।

रामसतसई या तुलसीसतसई का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है। कुंडलिया रामायण का रचना काल क्या है यह अनिश्चित है।

गोस्वामी जी की रचनाओं का काल डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार १६११ के आसपास से प्रारम्भ होकर १६८० में समाप्त होता है। इस प्रकार उनका रचनाकाल ७० वर्ष ठहरता है। गोसाईं चरित में १६१६ से १६७० तक मानकर ५४ वर्ष का रचनाकाल माना है। गोसाईंचरित में दिया रचनाओं का क्रम भी ठीक नहीं है। उन्होंने गीतावली, कृष्ण गीतावली, मानस, विनयपत्रिका, दोहावली, सतसई (?) की रचना होना तो रचनाकाल के पूर्वार्ध में अर्थात् १६१६ से १६४२ तक माना है। बरवै, नहछू, जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल, बाहुक, वैराग्यसंदीपिनी और रामाज्ञा का रचनाकाल १६६९-७० माना है। प्रौढ़ रचनाएँ तो कविताकाल के पूर्वार्ध में और अप्रौढ़ रचनाएँ उत्तरार्ध में रची बताई गई हैं जो असंभव है। ११५ वर्ष की अवस्था में नहछू और जानकीमंगल-जैसी शृङ्गारमयी रचनाएँ असम्भव हैं। नहछू का शृङ्गार भी संयत नहीं रह सका है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि कवि की प्राथमिक रचनाओं

* कुछ ग्रन्थों के रचना काल का तुलसीदास ने स्वयं निर्देश किया है।

में भाषा पर ध्यान अधिक रहता है तथा भाव अपनी प्रौढ़ता को प्राप्त नहीं कर पाते, 'गोसाईंचरित' के अनुसार रचनाक्रम मान लेने पर तुलसीदास जी उस नियम का अपवाद बन जाते हैं। 'नहछू' की भाषा तथा भावतारल्य स्पष्ट ही उसे प्राथमिक रचना घोषित कर रहे हैं। और फिर १६४२ में सतसई की रचना के बाद १६६६ तक वे कुछ भी क्यों न लिख सके इसका कोई उचित कारण भी नहीं दिया है। अतः यह रचना-क्रम ठीक नहीं जान पड़ता।

कुछ विद्वान् 'गोसाईंचरित' को आधार मानकर तुलसीदास जी की रचनाओं का क्रम कुछ सुधार के बाद निर्धारित करते हैं। विचार करने पर 'गोसाईंचरित' की अप्रामाणिकता स्पष्ट प्रतीत होती है। कारण निम्नलिखित हैं :—

१. तिथियों का इतना नियमित निर्देश और किसी तत्कालीन पुस्तक में नहीं मिलता। भारतीय साहित्य के इतिहास में यह एक अपवाद है। इसी से इसके प्रामाणिक होने में संदेह होता है।

२. इसमें दी हुई तिथियाँ प्रायः अशुद्ध हैं, इसमें लिखा है कि सूरदास चित्रकूट में गोसाईं जी से सं० १६१६ में मिले थे, और उनके पास गो० गोकुलनाथ जी का पत्र भी था। गो० गोकुलनाथ जी का जन्म सं० १६०८ में हुआ था। ८ वर्ष की अवस्था में गोकुलनाथ जी ने गोसाईं जी को विचारपूर्वक पत्र लिखा होगा यह संभव नहीं अतः यह तिथि अशुद्ध जान पड़ती है।

३. मीराबाई ने तुलसीदास जी को पत्र लिखकर अपना कर्त्तव्य पूछा था। "हमको कहा उचित करिबो है सो लिखिए समुझाई"। विचारकों ने 'गोसाईंचरित' की इस कहानी को भी असत्य सिद्ध कर दिया है। १६०३ में मीराबाई की मृत्यु हो चुकी थी यह गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा ने प्रमाणित कर दिया है। तुलसीदास का जन्म जैसा कि ग्रियर्सन ने माना है १५८९ में हुआ था, अतः तुलसीदास की बाल्यावस्था में ही मीरा का देहान्त हो चुका था, पत्र लिखने की घटना केवल कल्पना मात्र है। तब तक तुलसीदास की ख्याति न फैली थी।

४. "केशव ने रामचंद्रिका की रचना १६४३ में की थी", 'गोसाईंचरित' का यह उल्लेख भी असत्य है क्योंकि केशव ने स्वयं 'रामचंद्रिका' का रचनाकाल १६५८ लिखा है।

५. तुलसीदास के प्रति दुर्व्यवहार करने पर बानरों ने अकबर को पटक दिया था और बेगमों के कपड़े फाड़ डाले थे, यह एक ऐसी घटना है जिसका उल्लेख इतिहास में कहीं नहीं है, पर 'गोसाईंचरित' में इस घटना का उल्लेख भी है।

६. इसमें लिखा है कि रहीम ने 'बरवैनायिकाभेद' की रचना १६६६ में की, पर इतिहास से सिद्ध बात है कि उस समय रहीम का जीवन दुःखमय था अतः उस समय नायिकाभेद पर पुस्तक लिखना असंभव ही है।

७. जन्मते समय ही तुलसीदास ५ वर्ष के समान थे, बत्तीसों दांत थे, जन्म के समय रोए भी न थे, राम का नाम लिया था, ये ऐसी घटनाएँ हैं जो विश्वास-योग्य नहीं हैं इसी प्रकार कृष्ण का राम के रूप में बदल जाना, काशी में पत्थर के नंदी का हत्यारे के हाथ से प्रसाद ले लेना आदि घटनाएँ उनके अलौकिक प्रभाव की द्योतक बताई गई हैं, पर ये सारी घटनाएँ अविश्वसनीय हैं।

८. इसमें लिखा है कि तुलसीदास अनंतानंद के शिष्य नरहर्यानंद के शिष्य थे। पर तुलसी के गुरु नरहरिदास जो अनंतानंद के शिष्य श्रीरंग जी के चेले थे। दूसरी बात यह कि अनंतानंद और नरहर्यानंद दोनों ही रामानंद जी के बारह शिष्यों में से थे, दोनों सतीर्थ्य थे, गुरु-शिष्य न थे।

९. इसकी अप्रामाणिकता का सबसे प्रबल प्रमाण है उसकी पदावली की आधुनिकता। अंगरेज़ी आलोचना के क्षेत्र में एक वाक्य खंड बहुत प्रचलित है—'The true, the good and the beautiful.'

इसका ग्रहण भारतवर्ष में सबसे प्रथम ब्रह्मसमाज के द्वारा हुआ। धीरे धीरे यह बंगला के समीक्षा क्षेत्र का प्रिय वाक्य खंड बन गया इसका बंगला अनुवाद 'सत्यं शिवं सुन्दरं' है। हिन्दी के आधुनिक साहित्य पर बंगला का प्रभाव पड़ा है। यह वाक्यखंड भी हिंदी की आधुनिक समीक्षाओं में ले लिया गया। इससे पता चलता है कि यह वाक्यखंड भारतीय साहित्य में बहुत पुराना नहीं है, गोसाईंचरित में—

"देखिन तिरषित दृष्टि तें सब जने, कीन्ही सही संकरम्।
दिव्याषर सों लिख्यो, पढ़े धुनि सुने, सत्यं शिवं, सुन्दरम्॥"

इस वाक्य खंड को देखकर उसकी आधुनिकता पर कोई भी संदेह नहीं रह जाता, किसी ने प्रचलित किंवदंतियों का संकलन कर संवत् और तिथियों का निश्चित क्रम मिलाकर जाल रचा है ऐसा प्रतीत होता है।

परिस्थिति की चपेट में पड़कर पतन की ओर अग्रसर हो जाना या आगे न बढ़ पाना साधारण कोटि के मनुष्यों की बात है, महापुरुष प्रतिकूल परिस्थितियों को रौंदते हुए आगे बढ़ते हैं। महाकवि तुलसीदास जी का जीवन इसी सार्वभौम नियम का प्रतिफलन है। जन्मते ही माता के करुण स्नेह का अनुभव न कर सका पर वह पुष्प कुम्हला जाने वाला न था। मरुस्थल में भी इस शोभा और पूर्णता के साथ वह ऐसा खिला कि अखिल दिग्दिगन्त उसके सौरभ से सुवासित हो उठे। महाकवि को बचपन की तरह अंत समय में घोर कष्ट का अनुभव करना पड़ा। कलि के सताने पर ही उन्होंने 'विनय-पत्रिका' की रचना की थी। वृद्धावस्था में उनको बड़ी अशांति रहती थी। उनके 'मानस' का प्रचार प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था, उनका 'मानस' लोकमानस के मेल में आ चुका था। ऐसी दशा में विरोधियों का जलना स्वाभाविक ही था, उनकी कुचालों से तुलसीदास का मन अशांत रहता था।

पंडितों का एक बड़ा दल उनकी भाषा कविता, उपासनापद्धति, सबके लिए राम मंत्रोपदेश तथा भक्ति करने के अधिकार को प्रदान करने का सदा विरोध किया करता था। परन्तु तुलसीदास जी इन बातों से कभी विचलित नहीं हुए, उनका विचार था—

"का भाषा का संसकृत प्रेम चाहिए साँच।"

भले ही— "कर्मठ कठमलिया कहैं ज्ञानी ज्ञान विहीन।"

पर तुलसीदास जी राममय हो गए थे और राम ने उन्हें अपना लिया था—

"बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की, परी रघुनाथ सही है॥"

जिस पर रघुनाथ जी प्रसन्न हैं संसार उससे अप्रसन्न रहकर उसका क्या बिगाड़ लेगा! विद्वानों का विरोध गोसाईं जी के मन को अशान्त कर देता था। उनके शरीर में भी व्याधि थी। बाहु-पीड़ा से वे बहुत व्याकुल रहे तब उन्होंने कवितावली के अंतिम पदों

की रचना की जिनका संकलन कुछ विद्वानों ने हनुमान बाहुक के नाम से पृथक् किया है।

"बाहु तरु मूल बाहु सूल कपि कछु बेलि,
उपजी सकेलि कपि केलि ही उपारिए॥"

उनके प्लेग की गिल्टी भी निकली थी, उसकी प्रबल यातना से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने राम, शंभु और हनुमान से विनीत याचना की। कुछ लोगों का विचार है कि इसी प्लेग की बीमारी में उनका अंत हुआ। पर यह ठीक नहीं; इस रोग से छुटकारा उन्हें मिल गया था 'खाए हुतो तुलसी कुरोग रांड राकसिनि केसरी-किसोर राय वीर बरियाई है', पर उनका जराजरित शरीर अधिक न चल सका और वे 'श्रावण कृष्णा तीज शनि' को साकेतवासी हुए। प्लेग की बीमारी प्रायः माघ-फाल्गुन में होती है, जो कुछ दिनों में दब गई होगी, तिथि के संबन्ध में प्रचलित दोहा है :—

"संवत् सोलह सै असी असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यौ शरीर॥"

पर गोसाईं चरित में—"श्रावण श्यामा तीज शनि" पाठ है। यही ठीक भी जान पड़ता है। क्योंकि टोडर के वंशज अभी तक इसी तिथि को तुलसीदास के नाम का सीधा देते हैं। टोडर तुलसीदास के अनन्य मित्र थे और उनके बाद उनकी जायदाद का बटवारा भी तुलसीदास ने ही किया था। उस पंचनामे पर तुलसीदास जी के हस्ताक्षर भी मिले हैं। श्रावण में ही तुलसीदास जी की मृत्यु हुई थी, इसका प्रमाण उनकी रचनाओं से भी झलकता है।

"घेरि लियो रोगनि कुजोगनि कुलोगनि ज्यों,
बासर सजल घन घटा धुकि छाई है।
बरखत बारि पीर जारिए जवास ज्यों,
सरोष बिनु दोष धूम मूल मलिनाई है॥"

इससे स्पष्ट है कि वर्षा में वे रोगग्रस्त थे। अंत समय में उन्हें क्षेमकरी के दर्शन भी हुए थे।

"पेखु सपेम पयान समै सब सोचविमोचन छेमकरी है,"

जब काशी में महामारी का प्रकोप था। रुद्रबीसी चल रही थी, मीन का शनैश्चर (मीन की सनीचरी) भी पड़ा था। अनाचार का दौर-दौरा था, चारों ओर हाहाकार मचा था, देश का

शासन विधर्मियों के हाथ में था और हिन्दू धर्म पर आए दिन हमले हो रहे थे। स्वयं हिंदूधर्मावलंबी भी धर्म से विमुख हो रहे थे। निराश हिन्दू जाति को अकबर के शासन में कुछ शांति अवश्य मिली थी जिससे उसमें धर्मरक्षा की भावना कम होती जा रही थी। यह एक नियम है कि अत्याचार विद्रोह को जन्म देता है। हिन्दू जाति में जीवन को सुखमय बनाने की ललासा जागृत हो चुकी थी। धर्म से आस्था हटती जा रही थी। सदाचार और सौजन्य विलुप्त हो चुके थे।

वास्तव में तुलसीदास जी को अपने समय की इस परिस्थिति से बड़ा असंतोष था। लोगों की धर्महीनता को देखकर वे बहुत दुखी होते थे —

"प्रभु के वचन वेद बुध सम्मत मम मूरति महिदेवमई है।
तिन्ह की मति, रिस, राग, मोह, मद, लोभ लालची लीलि लई है।
राजसमाज कुसाज, कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है।
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है।"

ब्राह्मण और राजन्यवर्ग की जब यह दशा थी तो साधारण जनों की क्या बात की जाय। उस समय की राजनैतिक स्थिति से उन्हें असंतोष था। वितण्डा और पाखण्ड का साम्राज्य था एक बार एक पाखण्डी अलखिया साधु को वे फटकार बैठे थे—

"तुलसी अलखहिं का लखै रामनाम जपु नीच"।

राज्य की ओर से कठोर दण्ड दिए जाने से वे बहुत व्यथित होते थे, पशुबल से ही नीचों का शासन करना वे उचित न समझते थे। रावण को भी उन्होंने कितनी बार सँभलने का अवसर दिया है, मारीच, मंदोदरी, कुंभकर्ण, विभीषण, हनुमान, अंगद तथा मंत्रिवर्ग सभी उसे समझाते रहे। जब उसका अत्याचार रावणत्व की सीमा पर पहुँच गया तब राम ने उसको संसार से दूर कर दिया। साधारण से अपराध पर कठोर दण्ड देना वे राजधर्म के विरुद्ध समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने शूर तपस्वी का वध अपने मानस में नहीं दिखाया क्योंकि इससे भगवान राम के राजधर्म तथा शरणागत-वत्सलता पर आँच आती। उन्होंने भगवान के आदर्श रूप को सामने रखा है।

तुलसीदास जी एक असाधारण मनीषी विद्वान् पहुँचे हुए

महात्मा और उच्चकोटि के कवि थे। उनका स्वभाव अत्यन्त सरल शांत, गम्भीर, उदार और निरभिमान था। वे अत्यन्त आचारनिष्ठ थे तथा भारतीय आचार के प्रबल समर्थक। वे अन्धविश्वास प्रेतपूजा आदि के प्रबल विरोधी थे, उनके हृदय में राम के लिये अपार भक्ति थी।

तृतीय अध्याय

गोस्वामी जी की कविता : रामचरितमानस

गोस्वामी तुलसीदास जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। यह बात बहुमत से ही नहीं प्रायः सर्वसम्मति से स्वीकार की जाती है। जिन ग्रन्थों की रचना गोस्वामी जी ने की है उनका पहले ही उल्लेख हो चुका है। उनमें सब से बड़ा महत्वपूर्ण, सब से सुन्दर और सब से अधिक लोकप्रिय 'रामचरितमानस' है। इस कथन की सत्यता के सम्बन्ध में अपने आप कुछ कहने की अपेक्षा जगत् प्रसिद्ध विद्वानों और महापुरुषों के उद्गार विचारणीय हैं। प्रसिद्ध विद्वान् और अनेक भाषाओं के प्रकांड पंडित सर जार्ज ग्रियर्सन कहते हैं—

"रामचरितमानस कवि की सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसे नौ करोड़ मनुष्यों का बाईबिल कहते हैं और वस्तुतः उत्तरी भारत के प्रत्येक हिन्दू को इसका जितना ज्ञान है उतना मध्य श्रेणी के अंग्रेज किसान को बाईबिल का भी नहीं।"

उसी प्रकार रेवरेण्ड एडविन ग्रीव्ज़ अपनी सम्मति इस प्रकार देते हैं—

"श्री रामचरितमानस की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह सब श्रेणियों के लोगों को यहां तक कि जो लोग पढ़ना नहीं जानते, केवल सुन सकते हैं, उनको भी समान रूप से प्रिय है। इससे एक भोला-भाला ग्रामीण जितना आनन्दित होता है विद्वान् भी उतना ही आनन्द पाता है।"

माननीय दीनबन्धु श्रीयुत सी. एफ. एंड्रयूज़ रामचरितमानस के महत्व पर इस प्रकार कहते हैं—

"शायद बाईबिल और कुरान को छोड़कर मनुष्य जाति के

साधारण जनों में किसी भी अन्य पुस्तक ने इतना व्यापक प्रकाश नहीं डाला जितना तुलसी रामायण ने। तुलसीदास की रामायण की गणना अब तक आधुनिक संसार के जीवित धर्म-ग्रंथों में है।"

संसार के सब से बड़े महापुरुष महात्मा गान्धी के विचार मानस के सम्बन्ध में कितने उपयुक्त हैं वे कहते हैं—

"किसी ग्रन्थ को सर्वोत्तम कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि उसमें कुछ भी दोष है ही नहीं परन्तु 'रामचरितमानस' के लिये यह दावा अवश्य है कि उससे लाखों जीवों को शांति मिली है। जो ईश्वरविमुख थे वे ईश्वर की शरण में गये हैं और आज जा भी रहे हैं। 'मानस' का प्रत्येक पृष्ठ भक्ति से भरपूर है। 'मानस' अनुभव ज्ञान का भण्डार है।"

स्व० रामचन्द्र शुक्ल तुलसीदास के सम्बन्ध में लिखते हुये कहते हैं—

"आज 'रामचरितमानस' हिन्दी समझने वाली हिन्दू जनता के जीवन का साथी हो रहा है। तुलसी की वाणी मनुष्य जीवन को प्रत्येक दशा तक पहुँचाने वाली है। क्योंकि उसने रामचरित का आश्रय लिया है। रामचरित जीवन की सब दशाओं की समष्टि है।"

पूर्व और पश्चिम के इन प्रसिद्ध विद्वानों और महापुरुषों के कथन से पता चलता है कि 'रामचरितमानस' भारतीय साहित्य में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान रखता है। जितना अधिक इसका प्रचार है उतना और किसी ग्रन्थ का नहीं, जनता की इसके प्रति अपार भक्ति और श्रद्धा है। इतने समय बीत जाने पर भी यह आज के युग का साहित्य है। इसमें वर्णित पात्र और पात्रियाँ हमारे जीवन के सहचर और सहचरियाँ हैं। वस्तुतः इस ग्रन्थरत्न की रचना करके गोस्वामी जी ने हिन्दू जाति पर ही नहीं समस्त मानव जाति पर अशेष उपकार किया है। यदि यह बात न होती तो आज संसार की समृद्ध भाषाओं में इसका अनुवाद इतना लोकप्रिय न होता।

इसका अनुपान ग्रन्थ की रचना ग्रन्थ के नायक रामचन्द्र के जन्म स्थान अयोध्यापुरी में हुई थी। इसके विषय में ग्रन्थ के आरम्भ में ही स्वयं गोस्वामी जी कहते हैं—

"राम धामदा पुरी सुहावनि, लोक समस्त बिदित जग पावनि।"

\+ \+ \+ \+

"सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगल खानी॥
विमल कथा कर कीन्ह अरम्भा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥"

\+ \+ \+ \+

"अवधपुरी यह चरित प्रकासा"

गोस्वामी जी ग्रन्थरचना के समय के विषय में भी इसी प्रकरण में कहते हैं—

"संवत सोरह सै इकतीसा, कथा करौं हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥"

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि संवत सोलह सौ इकतीस में चैत्र की नौमी को मंगलवार के दिन अयोध्या में रामचरितमानस का प्रकाश हुआ। ये पंक्तियाँ बालकाण्ड के बिलकुल आरम्भ में नहीं हैं, ५४ दोहों के बाद आती हैं। एक दिन में इतनी पंक्तियाँ लिखना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अतः आरम्भ करने की यह तिथि बिल्कुल ठीक नहीं जान पड़ती। इससे ४ दिन पहले ही ग्रन्थ का लिखना आरम्भ हो गया होगा।

'रामचरितमानस' में रामचन्द्र जी की पूरी कथा का वर्णन है। प्रसंगवश अन्य कथाएँ भी आ गई हैं। इस ग्रन्थ के लिखने में तुलसीदास जी ने जिन प्रमुख ग्रन्थों का सहारा लिया है, वे हैं—

१. अध्यात्म रामायण २. वाल्मीकि रामायण ३. हनुमन्नाटक ४. प्रसन्नराघव ५. श्रीमद्भागवत।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से ग्रन्थों से सहायता ली गई है। तुलसीदास जी ने स्वयं भी कहा है—

नाना-पुराण निगमागम-सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।

अध्यात्म रामायण के राम सम्पूर्णतः ब्रह्म हैं। अपने 'मानस' में उन्होंने यही दृष्टिकोण रक्खा है। स्थान २ पर राम को ब्रह्म के रूप में स्मरण किया गया है।

रामचन्द्र के संबंध में तुलसीदास जी कहते हैं—

"व्यापक ब्रह्म निरञ्जन, निर्गुन, बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद॥"

ऐसे न जाने कितने उदाहरण 'रामचरितमानस' में विद्यमान हैं। कहीं २ कथा के लिये भी अध्यात्म रामायण का ही अनुसरण किया गया है। उदाहरण के लिये अहल्या का शापवश पत्थर होने का वर्णन।

'वाल्मीकि रामायण' पर 'मानस' की सारी कथा का विस्तार है। स्थान २ पर उन्होंने स्वतन्त्रता से काम लिया है। घटनाओं के बदलने और पात्र के चित्रण में तुलसीदास जी ने पूरी स्वतन्त्रता का प्रयोग किया है। 'वाल्मीकि रामायण' में परशुराम उस समय आते हैं जब सीता से विवाह करके लौटते समय राम अयोध्या के मार्ग में होते हैं। परन्तु तुलसीदास जी ने स्वयंवर की सभा में ही परशुराम को बुला लिया है। ऐसा करके सब लोगों के सामने परशुराम की अपेक्षा राम को अधिक शक्तिशाली दिखाकर उन्होंने अपने नायक का उत्कर्ष बहुत अधिक दिखाया है। इसी प्रसंग में कई पात्रों का चरित्र विकास के शिखर पर पहुँच गया है। राम, लक्ष्मण और परशुराम के चरित्र का विकास धनुषभंग के समय बहुत अच्छा हुआ है। इस परिवर्तन का ध्यान उन्हें 'हनुमन्नाटक' देखकर आया। 'वाल्मीकि रामायण' में पुष्पवाटिका का प्रसंग नहीं है। 'प्रसन्नराघव' की इस सूझ की सहायता से 'मानस' की शोभा बहुत बढ़ गई है। 'श्रीमद्भागवत' की बहुत सी सूक्तियाँ 'मानस' में आई हैं।

'रामचरितमानस' की कथा सात काण्डों में विभक्त है।

बालकाण्ड में मंगलाचरण उसके बाद याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद, सतीमोह, शिव-पार्वती-विवाह, नारदमोह, मनुशतरूपा का तप, भानुप्रताप की कथा, रामजन्म, विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा, पुष्पवाटिका का निरीक्षण, सीता-स्वयंवर और विवाह के वर्णन हैं।

अयोध्याकाण्ड में राज्याभिषेक की तैयारी और विघ्न, सीता-राम-संवाद, राम-लक्ष्मण-संवाद, लक्ष्मण-सुमित्रा-संवाद, वनगमन, केवट का प्रेम, राम-भरद्वाज-संवाद, राम-वाल्मीकि-संवाद, चित्रकूट निवास, दशरथ-मरण, भरत-कौशल्या-संवाद, भरत का चित्रकूट-प्रस्थान, भरत-भरद्वाज-संवाद, भरत-राममिलन, जनक का आगमन-भरत की बिदाई और नन्दीग्राम में निवास की कथा है।

अरण्यकाण्ड में जयन्त की कुटिलता, सीता-अनुसूया-मिलन, सुतीक्ष्ण का प्रेम, पंचवटी-निवास, शूर्पणखा को दण्ड, खरदूषणवध, मारीचवध, सीताहरण और शबरी की कथा है।

किष्किन्धाकाण्ड में राम-हनुमान की भेंट, सुग्रीव की मैत्री, बालि-वध, सीता की खोज और हनुमान जाम्बवन्त का संवाद है।

सुन्दरकाण्ड में हनुमान का लंका-प्रवेश, सीता-हनुमान-मिलन,

लंकादहन, हनुमान का पुनरागमन, युद्धयात्रा, विभीषण का स्वागत, और समुद्र पर कोप का वर्णन है।

लंकाकाण्ड में सेतुबन्ध, अंगद-रावण-संवाद, लक्ष्मण और मेघनाद का युद्ध, राम-विलाप, कुम्भकर्ण, मेघनाद और रावण का वध, सीता की अग्निपरीक्षा और अयोध्या-प्रस्थान का विवरण है।

उत्तरकाण्ड में भरत-मिलाप, राज्याभिषेक, प्रजा को उपदेश, गरुड़-काकभुशुण्डि संवाद, काकभुशुण्डि-लोमश-संवाद और ज्ञान-भक्ति-निरूपण हैं।

'रामचरितमानस' एक प्रबन्ध काव्य है। प्रबन्ध की दृष्टि से देखने पर इसमें सारे गुण मिल जाते हैं। राम एक महापुरुष या देवता के रूप में नायक बनकर आते हैं। शृंगार, वीर और शान्त तीनों रसों का समावेश है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनमें से एक या सभी इसके द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। जिस प्रकार महाकाव्यों में मंगल-वंदना अथवा सज्जन-प्रशंसा या दुर्जन-निन्दा को प्रारम्भ में स्थान मिलता है वही बात यहाँ दिखाई देती है। सर्ग के स्थान में सोपानों का प्रयोग हुआ है। प्रत्येक सोपान मुख्य रूप में एक प्रकार के ही छन्द चौपाई में लिखा गया है और नियमानुसार अन्त में छन्द बदल गया है। मानस के सात सोपानों को लेकर बहुत से लोग इसके महाकाव्य होने पर शंका करते हैं। परन्तु वास्तव में सर्ग या सोपान संबन्धी कठोर नियम को लेकर आचार्यों में मत-भेद है। भारतीय परम्परा के अनुसार तुलसीदास जी ने राम के दुःखान्त जीवन-नाटक को भी सुखान्त ही रक्खा है। सीतावनवास की कथा को इसी लिये स्थान नहीं दिया गया है। यथास्थान नदी नद, पर्वत, बन, मृगया इत्यादि के वर्णन का सुन्दर समावेश करके रामचरितमानस को एक उत्तम प्रबन्ध-काव्य का रूप देने में तुलसीदास जी ने कोई कसर नहीं छोड़ी है।

अपनी प्रतिभा के बल पर उन्होंने मानस में कई स्थलों को बड़ा रोचक, स्वाभाविक और उत्कृष्ट बना दिया है।

किष्किन्धाकाण्ड में हनुमान का दल सीता को ढूँढ़ने चला है। वहां एक तापस नारी का प्रसंग है—

"मन हनुमान कीन्ह अनुमाना। मरे चहत सब बिनु जलपाना।
चढ़ि गिरि सिखर चहूँ दिसि देखा। भूमि बिबर एक कौतुक पेखा॥

चक्रवाक बक हंस उड़ाहीं। बहुतक खग प्रबिसहि तिहिं माहीं ॥
गिरि ते उतर पवनसुत आवा। सब कहँ लै सो विवर दिखावा ॥
आगे करि हनुमन्तहिं लीन्हा। पैठे विवर बिलम्ब न कीन्हा ॥
दीख जाई उपबन सुभग, सर बिकसित बहु कंज।
मंदिर एक रुचिर तहँ, बैठि नारि तप पुंज ॥
+ + + +
बदरी बन कहँ सो गई, प्रभु अज्ञा धरि सोस।
उर धरि राम चरनयुग, जे बन्दत अज ईस ॥"

यह प्रसंग रामायण की सारी प्रतियों में पाया जाता है। अतः यह प्रक्षिप्त नहीं हो सकता। कथाप्रसंग से इस घटना का कोई सीधा सम्बन्ध भी नहीं दीखता। यह कथा रामायण के किष्किन्धा-कांड से ली गई है। यह तपस्विनी मेरुसावर्ण्य की पुत्री स्वयंप्रभा थी और उस समय उस उपवन की रक्षा कर रही थी। उस गुफा का नाम ऋक्षबिल था। और उस उपवन की रचना मय दानव ने की थी। एक बार हेमा नाम की अप्सरा पर मय आसक्त हो गया तब इन्द्र ने उसे वज्र से मार डाला और हेमा को उपवन की स्वामिनी बना दिया। स्वयंप्रभा हेमा की सखी थी और उस उपवन की रक्षा करती थी।

इस घटना को तुलसी ने अनुकरण के लिये नहीं जान बूझ कर रक्खा है। हनुमान का दल सीता की खोज में निकला था जिसमें उसे सफलता भी मिली। तपस्विनी नारी का मिलन भावी सफलता की सूचना देने वाला शकुन था। साथ ही उसकी योग शक्ति से सारा दल समुद्रतट पर पहुँच गया। किष्किन्धा से लेकर समुद्रतट की यात्रा में मार्ग के दृश्यों आदि का वर्णन न होता तो देशकाल के संकलन के विरुद्ध बात होती। यदि वर्णन किया जाता तो ग्रन्थ के कलेवर की बहुत वृद्धि हो जाती।

दूसरी कठिनाई यह होती कि पाठक का मन उस वर्णन में न लगता। उसका मन सीता का हाल सुनने के लिये व्याकुल है। प्राकृतिक दृश्यों का इतना सुन्दर वर्णन वानरों की दृष्टि से देखे जाने पर कभी न होता उसमें अस्वाभाविकता आ जाती। वानर भी "राम काज लवलीन मन बिसरा तनु कर छोह" बने हुए थे, उन्हें प्राकृतिक दृश्य देखने का न तो ध्यान था न अवकाश। प्रबन्धकुशल तुलसी-

दास ने इस अलौकिक घटना को बीच में रखकर अपने काव्य को प्रबन्ध-दोष से बचा लिया और वानर क्षण भर में समुद्रतट पर पहुँच गये। लंकादहन के बाद लौटते समय मार्ग के दृश्यों के वर्णन की कोई आवश्यकता न थी। हनुमान के आने पर सारे वानर—

"मिले सकल अति भये सुखारी। तलफत मीन पाव जनु बारी॥
चले हरषि रघुनायक पासा। पूछत कहत नवल इतिहासा॥"

सब प्रसन्न थे नये नये इतिहास की चर्चा में प्रकृति के दृश्यों की ओर वानरों की दृष्टि न जाना ही स्वाभाविक है। इस प्रकार हर्षातिरेक की ओट में तुलसी ने सारी यात्रा समाप्त कर दी। मधुवन में आकर वानरों ने जो उपद्रव मचाया है वह उनके अत्यधिक आनन्द की सीमा का स्वाभाविक परिणाम है।

राम-चरित-मानस एक विशाल ग्रन्थ है। ग्रन्थ रचना के बहुत वर्ष बाद तुलसीदास जी का देहावसान हुआ था अस्तु अपने जीवन-काल में ही यथासम्भव उसमें परिवर्तन हुए होंगे। यही कारण है कि रामायण की जो विभिन्न प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनके पाठों में अन्तर है। उनके परलोक-गमन के अनन्तर भी पाठभेद का होना सम्भव है। उत्तर काण्ड के अन्त में तुलसीदास जी ने मानस की चौपाइयों की संख्या स्वयं ५१०० बताई है। उन्होंने कहा है—

"सत पंच चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरें।
दारुन अविद्या पंच जनित विकार श्री रघुवर हरें॥"

'अंकानां वामतो गतिः' अर्थात् गिनती में बाईं ओर से चलना चाहिये, इस नियम के अनुसार 'मानस' की चौपाईयों की संख्या ५१०० होती चाहिये। परन्तु देखा जाता है किसी भी प्रति में यह संख्या ठीक-ठीक नहीं है। स्व० रामदास गौड़ ने ५१०० चौपाइयों की संख्या को ही ठीक माना है और उसे 'पद्मावत' के ढंग पर कहीं द्विपदी को और कहीं चतुष्पदी को एक चौपाई के रूप में लिया है। इस प्रकार यह संख्या पूर्ण हो जाती है। इन चौपाइयों के अतिरिक्त और भी श्लोक, दोहे, सोरठे और अन्य छन्द हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित मानस के सम्पूर्ण छन्दों की संख्या ६१६८ है। क्षेपक इनमें सम्मिलित नहीं हैं।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से मानस में तुलसीदास को अपूर्व

सफलता मिली है। ग्रन्थ के नायक राम का ही नहीं, सीता, भरत, लक्ष्मण, दशरथ, परशुराम, हनुमान आदि पात्रों का चरित्र भी इतना स्पष्ट और सजीव है कि उसे देखकर हृदय आनन्द विभोर हो उठता है। जिन पात्रों का विकास वाल्मीकि की रामायण में नहीं हुआ उनका भी इसमें सुन्दर ढंग से विकास हो सका है। गुरु के प्रति रामचन्द्र की कितनी श्रद्धा है; वे कहते हैं—

"सेवक सदन स्वामि आगमनू, मंगलमूल अमंगल दमनू।"

माता-पिता के प्रति राम की भक्ति का ज्वलंत उदाहरण उनका अपना जीवन है। स्वयं अपनी माता से वे कह रहे हैं—

"सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥"

भाई के प्रेम से उनका हृदय कितना भरा हुआ है। लक्ष्मण के अचेत होने पर विलाप करते हुए राम कहते हैं—

"जो जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत वित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारी जिय जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥"

प्रजा के लिए उनके हृदय में कितना स्थान था! वे लक्ष्मण को बन न जाने के लिए समझाते हुए कहते हैं—

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥"

सीता के पति प्रेम को व्यक्त करने वाली ये दो पंक्तियाँ कितनी भावपूर्ण हैं।

"जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। प्रिय बिनु तियहिं तरनिहुँ ते ताते॥"

पार्वती की पति के प्रति दृढ़ भक्ति को व्यक्त करने वाली ये पंक्तियाँ भी कम महत्त्व की नहीं हैं। इनका प्रतिदिन के व्यवहार में प्रयोग करके मनुष्य नैतिक बल प्राप्त कर सकता है—

"जनम कोटि लगि रगरि हमारी। बरौं संभु न तु रहौं कुमारी॥"

महावीर हनुमान के चरित्र का साधारण सा अनुमान राम के इस कथन से सहज में ही हो सकता है—

"सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तन धारी॥
सुनु कपि जनि मानेसि जिय ऊना। तैं मम प्रिय लक्ष्मण तें दूना॥"

वस्तुतः मानस में जो चरित्र अंकित हैं उन पर एक विशद पुस्तक अलग लिखी जा सकती है।

काव्य में नाटक के तत्त्व संवाद के समावेश से बड़ी सजीवता

आ जाती है, कथा रोचक हो जाती है और चरित्रचित्रण में भी बड़ी सहायता मिलती है। संवादों की सृष्टि में तुलसीदास जी सफल हैं। 'रामचरितमानस' का आरम्भ करते हुए तुलसीदास जी ने संवाद का ही वर्णन किया है। वे कहते हैं :—

"अब रघुपति पद पंकरुह, हिय धरि पाइ प्रसाद।
कहउँ जुगल मुनिवर्य कर, मिलन सुभग संवाद ॥"

ये युगल मुनिवर्य याज्ञवल्क्य और भरद्वाज हैं।

इसके अतिरिक्त कथा के आधारस्वरूप तीन संवाद और हैं उमा-शम्भु-संवाद, गरुड़-काक-भुशुण्डि-संवाद और गोसाईं और भक्त-संवाद। ये संवाद कथा के साथ ही चलते हैं। बीच में और भी संवाद हैं जो मानस की शोभा को कई गुना बढ़ा देते हैं। इनमें से बड़े परशुराम-लक्ष्मण-संवाद और अंगद-रावण-संवाद मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त रावण-मंदोदरी-संवाद आदि और भी कई सरस संवाद हैं। परशुराम-लक्ष्मण-संवाद के सम्बन्ध में बहुत से लोगों का मत है कि यह हिन्दी साहित्य के संवादों में सर्वश्रेष्ठ है। इसको रखने में उन्होंने बड़े कौशल से काम लिया है।

धनुष-भंग का भीषण शब्द सुनकर परशुराम दौड़े हुए क्रोध और आवेश में आते हैं। इसके पहले ही स्वयंवर-सभा का वातावरण राजाओं के विवाद से गर्म हो चुका रहता है। आते ही वे पूछते हैं :—

"कहु जड़ जनक धनुष केहि तोरा।"

और उत्तर की अपेक्षा किए बिना ही वे हुक्म देते हैं—

"बेगि दिखाउ मूढ़ न तु आजू"

साथ ही धमकी देते हैं।

"उलटौं महि जहँ लगि तव राजू।"

इस पर राम शीतल वाणी में उन्हें शान्त करने का यत्न करते हैं। परन्तु उनके क्रोध में कोई कमी नहीं आती। लक्ष्मण को यह देखकर उन्हें कुछ चिढ़ाने की सूझती है और परशुराम की क्रोधाग्नि भड़क उठती है। बीच बीच में कुछ रह कर लक्ष्मण उसमें घी डाल देते हैं। सारा का सारा प्रसंग हास्य और क्रोध का विचित्र सम्मिश्रण है साथ ही सारा संवाद वेगपूर्ण और प्रभावोत्पादक है।

इसी प्रकार अंगद-रावण-संवाद भी कम रोचक और ओज-

पूर्ण नहीं है। इस संवाद पर बहुत से आलोचक ग्राम्यत्व का दोष लगाते हैं। रावण जैसे महाप्रतापी राजा से अंगद जैसे राजकुमार को इस प्रकार की बातें न करनी चाहिये। परन्तु अगर इस शिष्टता के चश्मे को उतार कर रख दें तो संवाद कम रोचक नहीं जान पड़ता। थोड़े में बहुत भाव व्यक्त करने वाले वाक्यों का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। रावण एक बात कहता है और अंगद दस बातें सुना जाते हैं। उदाहरण के लिये रावण के यह पूछने पर ही कि तू कौन बन्दर है अंगद अपना व्याख्यान आरम्भ कर देते हैं और उसमें अपना और अपने पिता का परिचय देते हुये रावण और अपने पिता बालि की मैत्री की बात भी कह डालते हैं साथ ही उसे बड़ी नम्रता के साथ सीता को वापस लौटा कर रामचन्द्र से क्षमायाचना का आदेश देते हैं। रामचन्द्र कितने उदार हैं इसका भी वे उल्लेख करते हैं। बिना पूछे इतनी बातें कहने पर रावण का क्रोधित होना स्वाभाविक है परन्तु फिर भी अपने क्रोध को वह दबाने की चेष्टा करता है और बालि की कुशल पूछता है। धीरे-धीरे बात बढ़ जाती है। रावण अपनी बड़ाई सिद्ध करने के लिये अपने स्वभाव के अनुसार डींग मारता है और एक-एक करके राम की सेना के एक-एक योद्धा के पराक्रम की हँसी उड़ाता है। संवाद को रोचक बनाने के लिये तुलसीदास जी ने अंगद के मुँह से झूठ भी बुलवाया है। वस्तुतः वाद-विवाद में ऐसी बातों का होना स्वाभाविक भी है और ऐसा करके उन्होंने संवाद को रोचक बना दिया है। हनुमान के सम्बन्ध में अंगद क्या कहते हैं देखिये—

"सत्य बचन कहु निशिचर नाहा। साँचेहु कीस कीन्ह पुर दारा॥
रावन नगर अलप कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई॥
जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन॥
चलै बहुत सो बीर न होई। पठवा खबरि लेन हम सोई॥

सत्य नगर कपि जारेउ, बिनु प्रभु आयसु पाइ।
फिरि न गयेउ सुग्रीव पहिं, तेहि भय रहा लुकाइ॥"

अंगद के साथ रावण जैसा गम्भीर व्यक्ति भी जिस प्रकार गालीगलौज करने लग जाता है उसे देखकर हँसी आती है। जब दो व्यक्ति आपस में वाग्-युद्ध पर उतर जाते हैं तो दूसरे को नीचा दिखाना ही ध्येय बन जाता है। यही बात यहाँ भी हुई है। अंत में

जब रावण कटु वाक्यों से न जीत सका, तब वह अंगद को मारने की धमकी देने लगा। परन्तु अंगद पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। इसके बाद अंगद ने अपना पैर जमाया जो किसी के हटाये न हटा। रावण ने स्वयं उसका पैर हटाना चाहा परन्तु अपनी वाक्चातुरी से वहाँ भी उसने रावण को नीचा दिखा दिया।

इसके अतिरिक्त अन्य संवादों में तुलसीदास जी को बड़ी सफलता मिली है। विभिन्न पात्रों के द्वारा स्थान २ पर उनको ही फबने वाली उक्तियाँ कहलवाई हैं। उनमें स्वाभाविकता और सरलता कूट २ कर भरी हुई है। वह युग नाटकों का नहीं था अन्यथा यदि तुलसीदास जी नाटक लिखते तो निःसन्देह सफल नाटककार होते। आजकल भी बहुत से स्थानों में रामलीला के अवसर पर इन संवादों के द्वारा जनता का बहुत मनोरञ्जन होता है।

प्राचीन महाकाव्यों में जिस प्रकार प्रकृति और नगरों इत्यादि का वर्णन है उसी प्रकार जहां तहां उत्कृष्ट वर्णन करने में भी तुलसीदास जी पीछे नहीं रहे हैं। सीता को बन जाने से रोकते समय बन का भयंकर चित्र उपस्थित करते हुए राम कहते हैं—

"काननु कठिन भयंकर भारी। घोर घाम हिम वारि बयारी॥
कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिन पद-त्राना॥
+ + + +
मारग अगम भूमिधर भारे। कंदर खोद नदी नद सारे॥
अगम अगाध न जाहिं निहारे।
भालु बाघ बृक केहरि नागा॥ करहिं नाद सुनि धीरजु भागा॥"

नदी का एक रूपक देते हुए तुलसीदास जी ने जो कुछ लिखा है उससे उनकी अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। चित्रकूट में रामचन्द्र सारी सेना लिये हुए जनक के साथ आश्रम की ओर आ रहे हैं—

"आश्रम सागर सांत रस, पूरन पावन पाथ।
सेन मनहुँ करुना सरित, लिये जाहिं रघुनाथ॥
बोरति ज्ञान बिराग करारे। वचन ससोक मिलत नद-नारे॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट तरुवर कर भंगा॥
विषम बिषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा॥
केवट बुध विद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ एक नहिं आवा॥

बनचर कोल किरात बिचारे । थके बिलोकि पथिक हिय हारे ॥
आश्रम उदधि मिली जब जाई । मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई ॥

पंपा सरोवर का वर्णन देखिये—

"पंपा नाम सुभग गंभीरा ॥
संत हृदय जस निरमल बारी । बांधे घाट मनोहर चारी ॥
जहँ जहँ पियहिं विविध मृग नीरा । जनु उदार गृह जाचक भीरा ॥
पुरइनि संघन ओट जलु, बेगि न पाइय मर्म ।
+ + + +
विकसे सरसिज नाना रंगा । मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा ॥
बोलत जलकुक्कुट कलहंसा ।
+ + + +
चक्रवाक बक खग समुदाई । देखत बनइ बरनि नहिं जाई ॥
सुन्दर खग गन गिरा सुहाई । जात पथिक जनु लेत बोलाई ॥
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाये । चहुँ दिसि कानन विटप सुहाये ॥
चंपक बकुल कदंब तमाला । पाटल पनस परास रसाला ॥
नव-पल्लव कुसुमित तरु नाना । चंचरीक पटली कर गाना ॥
सीतल मन्द सुगन्ध सुभाऊ । संतत बहइ मनोहर बाऊ ॥
कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं । सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं ॥
फल भर नम्र विटप सब, रहे भूमि नियराय ।"

सीता-हरण के बाद राम ने लक्ष्मण के साथ ऋष्यमूक पर्वत पर वर्षाकाल बिताया था उनके मुख से ही वर्षा का वर्णन सुनिये—

"लछिमन देखहु मोरगन, नाचत बारिद पेखि ।
गृही बिरति रत हरष जस, बिस्नु भगत कहँ देखि ॥
घन घमंड गरजत नभ घोरा । प्रिया-हीन डरपत मन मोरा ॥
दामिनि दमकि रही घन माहीं । खल की प्रीति यथा थिर नाहीं ॥
बरसहिं जलद भूमि नियराये । यथा नवहिं बुध विद्या पाये ॥
बुन्द अघात सहहिं गिरि कैसे । खल के बचन सन्त सह जैसे ॥
छुद्र नदी बहि चली तोराई । जल थोरेहु धन खल बौराई ॥
भूमि परत भा डाबर पानी । जनु जीवहिं माया लपटानी ॥
सिमटि सिमटि जल भरहिं तलावा । जिमि सदगुण सज्जन पहिं आवा ॥
सरिता जल जलनिधि महुँ जाई । होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ॥
हरित भूमि तिन संकुल, समुझि परहिं नहिं पंथ ।
जिमि पाखंड विवाद ते, लुप्त होहिं सदग्रंथ ॥

शरद् ऋतु का वर्णन भी सुनिये—

"वर्षा विगत शरद ऋतु आई। लछिमन देखहु परम सुहाई॥
फूले कास सकल महि छाई। जनु वर्षा कृत प्रगट बुढ़ाई॥
उदित अगस्त पंथ जल सोखा। जिमि लोभहिं सोखै संतोषा॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा॥
जल संकोच विकल भई मीना। अबुध कुटुम्बी जिमि धन हीना॥
भूमि जीव संकुल रहे, गए शरद ऋतु पाइ।
सदगुरु मिले ते जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाइ॥"

वर्षा और शरद् के इन उदाहरणों में उपदेशमय उपमाओं का भार इतना अधिक हो गया है कि प्रकृति की शोभा दबी जा रही है। प्रकृति की ओर से ध्यान हट कर उपदेशों की ओर बरबस चला जाता है। किन्तु गोस्वामी जी में प्रकृति-वर्णन की क्षमता थी। वसन्त वर्णन की इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है—

"भूप बाग वर देखेउ जाई। जहँ बसंत ऋतु रहेउ लुभाई॥
लागे विटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥
नव पल्लव फल सुमन सुहाये। निज संपति सुररूख लजाये॥
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहँग नचत कल मोरा॥"

रामचरितमानस में सूर्योदय का जो वर्णन है वह आलम्बन के रूप में नहीं है। धनुष तोड़ते समय रामचन्द्र का वर्णन करते हुए सूर्योदय का सांग रूपक उपस्थित किया गया है—

"उदित उदय गिरि मंच पर, रघुबर बाल पतंग।
बिकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग॥
नृपन केरि आसा निसि नासी। करत नखत अवलीन प्रकासी॥
मानि महिप कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने॥
भये बिसोक कोक मुनि देवा। बरषहिं सुमन जनावहि सेवा॥

सीता के वियोग में रामचन्द्र दुखी हैं उनका स्नेह सीता के सौन्दर्य को अधिक तीव्र कर रहा है। चन्द्रमा को देखकर उनका ध्यान सीता की ओर आकृष्ट हो गया, चन्द्रमा की शोभा फीकी हो गई—

"प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुख पावा॥
बहुरि विचार कीन मन माँही। सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥

प्रकृति के सौंदर्य के वर्णन के साथ साथ तुलसीदास जी ने

नगरों का वर्णन भी किया है। जनकपुर की शोभा जो राम ने देखी थी उसकी झलक देखिये—

"वापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधा सम मनि सोपाना॥
गुंजत मंजु मत्त रस भृङ्गा। कूजत कल बहु बरन बिहंगा॥
बरन बरन बिकसे बन जाता। त्रिविध समीर सदा सुखदाता॥
सुमन बाटिका बाग बन, विपुल विहंग निवास।
फूलत फलत सुपल्लवित, सोहत पुर चहुंपास॥
बनइ न बरनत नगर निकाई। जहां जाइ मन तहँ लोभाई॥
चारु बजार बिचित्र अँबारी। मनिमय विधि जनु स्वकर सँवारी॥
धनिक बनिक बर धनद समाना। बैठे सकल वस्तु लै नाना॥
चौहट सुन्दर गली सुहाई। संतत रहहिं सुगन्ध सिंचाई॥
मंगलमय मंदिर सब केरे। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे॥
पुर नर नारि सुभग सुचि संता। धरमसील ज्ञानी गुनवन्ता॥
अति अनूप जहँ जनक निवासू। विथकहिं विबुध बिलोकि बिलासू॥
होत चकित चित कोटि बिलोकी। सकल भुवन सोभा जनु रोकी॥
धवल धाम मनि पुरट पट सुघटित नाना भाँति।
सिय निवास सुन्दर सदन सोभा किमि कहि जाति॥
सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा। भूप भीर नट मागध भाटा॥
बनी बिसाल बाजि गज साला। हय गज रथ संकुल सब काला॥
सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप गृह सरिस सदन सब केरे॥"

सुन्दरकाण्ड में लंका का और उत्तरकांड में अयोध्या का वर्णन भी बड़ा मनोहर है।

मानव-सौन्दर्य के वर्णन में भी तुलसीदास जी ने बड़ा कौशल दिखाया है। सीताहरण के बाद उपमानों को देख देख विलाप करते हुए राम सीता का सर्वांग वर्णन कर जाते हैं—

"हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥
खंजन सुत कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना॥
कुन्दकली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी॥
बरुन पास मनोज कल हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्री फल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
सुनु जानकी तोहि बिन आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥"

संसार से विरक्त महात्मा होते हुए भी युद्ध का वर्णन कर

के तुलसीदास जी ने अपनी व्यापक प्रतिभा का परिचय दिया है। राम-रावण-युद्ध के प्रसंग की कुछ पंक्तियां देखिये—

"सुभट समर रस दुहुँ दिस माते। कपि जय सील राम बल ताते॥
एक एक सन भिरहिं प्रचारहिं। एकन्ह एक मर्दि महि पारहिं॥
मारहिं काटहिं धरनि पछारहिं। सीप तोरि सीसन्ह सन मारहिं॥
उदर विदारहिं भुजा उपारहिं। गहि पद अवनि पटकि भट डारहिं॥"

\+ \+ \+ \+

"संधानि धनु सर निकर छाँड़ेसि, उरग जिमि उड़ि लागहीं।
रहे पूरि सर धरनी गगन, दिसि बिदिसि कहँ कपि भागहीं।
भयो अति कोलाहलु विकल कपि, दल भालु बोलहिं आतुरे।
रघुवीर करुना सिंधु आरत, बन्धु जन रच्छक हरे॥"

खरदूषण और त्रिसिरा के साथ रामचन्द्र के युद्ध का भी चित्र देखने के योग्य है—

"तब चले बाण कराल। फुंकरत जनु बहु ब्याल॥
कोपेउ समर श्रीराम। चले बिसिख निसित निकाम॥
अवलोकि खरतर तीर। मुरि चले निसिचर बीर॥
एक एक को न सँभार। करैं तात भ्रात पुकार॥
भय क्रुद्ध तीनिउ भाइ। जो भागि रन ते जाइ॥
तेहि बधब हम निज पानि। फिरे मरन मन महुँ ठानि॥
आयुध अनेक प्रकार। सनमुख ते करहिं पुकार॥
रिपु परम कोपे जानि। प्रभु धनुष सर संधानि॥
छोड़े विपुल नाराच। लोग कटन बिकट पिशाच॥
उर सीस भुज कर चरन। जहँ तहँ लगे महि परन॥
चिक्करत लागत बान। धर परत कुधर समान॥
भट कटत तन सतखंड। पुनि उठत करि पाखंड॥
नभ उड़त बहु भुज मुंड। बिनु मौलि धावत रुंड॥
खग कंक काक सृगाल। कट कटहिं कठिन कराल॥"

विस्तार भय से 'रामचरितमानस' की अन्य विशेषताओं पर अलग विचार करने की अपेक्षा आगे चल कर सारी रचनाओं की विशेषताएँ एक साथ दिखाना ही उचित होगा।

चतुर्थ अध्याय

गोस्वामी जी की कविता : अन्य रचनायें

तुलसीदास जी के जो ग्रंथ प्रामाणिक माने जाते हैं उन पर साधारण दृष्टि से विचार कर लेना आवश्यक है इन ग्रन्थों में से सात छोटे ग्रन्थ हैं पाँच बड़े बड़े ग्रन्थों में से 'रामचरितमानस' का परिचय दिया जा चुका है।

रामलला नहछू—इसमें केवल २० छन्द हैं। ये छन्द सोहर कहलाते हैं और शुभ अवसरों पर इनको गाया जाता है। इन छन्दों की रचना किस समय को ध्यान में रखकर की गई है इस विषय में विद्वानों का मतभेद है। श्रीसद्गुरुशरण अवस्थी इसे यज्ञोपवीत के उपलक्ष्य में लिखा हुआ मानते हैं तथा बाबू श्यामसुन्दर-दास जी और डा० बड़थ्वाल विवाह के अवसर का। रामकुमार वर्मा इसे जनता के व्यवहार के लिये लिखा मानते हैं। उसके मत में इसे 'उपखण्ड काव्य' कहना चाहिये क्योंकि इसमें तारतम्य और क्रम है। भाषा की सुन्दरता और सौष्ठव के कारण इसे उन्होंने तुलसीदास का प्रथम काव्य माना है। 'गोसाईंचरित' के अनुसार इसकी रचना मिथिला में हुई थी—

'मिथिला में रचना किए, नहछू मंगल दोय।'

उसी ग्रंथ के अनुसार गोस्वामी जी ने मिथिला की यात्रा संवत् १६४० के पूर्व की थी अस्तु इसका समय १६३९ ठहरता है जो उपयुक्त नहीं जान पड़ता। रामायण का रचना काल संवत् १६३१ माना गया है और विद्वानों के मत में यह ग्रंथ उससे पुराना है। अवस्थी जी इसका रचना काल संवत् १६१६ मानते हैं।

इसकी प्रामाणिकता के संबंध में मिश्रबन्धुओं का संदेह है पर बड़े बड़े विद्वान् इसे तुलसीकृत ही मानते हैं। 'नहछू' के कुछ पद्य उदाहरण के रूप में लीजिये—

बनि बनि आवत नारि जानि गृह मायन हो।
बिहँसत आउ लोहारिनि हाथ बरायन हो॥

\+ + +

बतिया कै सुघरि मलिनिया सुंदर गातहि हो।
कनक रतन मनि मौर लिहे मुसकातहि हो॥

\+ + +

गावहिं सब रनिवास देहि प्रभु गारी हो।
रामलला सकुचाहिं देखि महतारी हो॥

इसकी भाषा अवधी है।

जानकी मंगल—यह एक खण्ड काव्य है। इसमें सीता और राम का विवाह वर्णित है। इसकी कथा 'मानस' से भिन्न है। पुष्पवाटिका, जनकपुर-वर्णन और परशुराम का धनुषभंग के समय आने का वर्णन इसमें नहीं है। इसकी रचना वाल्मीकि रामायण के आधार पर हुई है। कथा का जैसा विकास होना चाहिए नहीं हुआ है। इसमें २१६ छंद हैं जिनमें १९२ अरुण और २४ हरिगीतिका हैं। 'गोसाईंचरित' के अनुसार इसका रचनाकाल संवत् १६४० है; परन्तु पार्वतीमंगल और जानकीमंगल के रचनासादृश्य के आधार पर दोनों का रचनाकाल एक ही माना जा सकता है। पार्वतीमंगल का समय उसी पुस्तक में कवि ने स्वयं दिया है—

"जय संवत् फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु।
आस्वनि बिचरेउँ मंगल, सुनि सुख छिनु छिनु॥"

अर्थात् जय संवत् फागुन सुदी ५ गुरुवार को अश्विनी नक्षत्र में इसे तुलसीदास जी ने बनाया।

इसके कुछ उदाहरण देखें—

"एक कहहिं कुँवर किसोर, कुलिस कठोर सिव धनु है महा।
लेहिं बाल मराल मन्दर, नृपन अस काहु न कहा॥
संकल्पि सिय रामहिं समर्पी, सील सुख सोभा मई।
जिमि संकरहिं गिरिराज गिरिजा, हरिहिं श्री सागर दई॥
+ + + +
पंथ मिले भृगुनाथ हाथ फरसा लिए। डाटहिं आँखि देखाई कोप दारुन किये।"

रामाज्ञा प्रश्न—इस ग्रंथ में भी रामकथा का वर्णन है। सारी कथा सात सर्गों में है पर बालकांड को दुबारा स्थान मिला है। सारी रचना दोहों में है अतः उसे 'दोहावली रामायण' भी कहते हैं। दोहों की संख्या ३४३ है। वस्तुतः यह ग्रंथ शुभाशुभ फल जानने के लिये लिखा गया था। कथाओं की दृष्टि से यह वाल्मीकि रामायण के अधिक निकट है। बीच बीच में सीता के निर्वासन आदि की कथाओं का निर्देश भी है। समग्र रूप में यह ग्रंथ प्रबन्ध की दृष्टि से अच्छा नहीं है। काव्यसौंदर्य अधिक नहीं है। बहुत से दोहे अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं।

इसकी रचना के समय के विषय में मतभेद है 'गोसाईं-चरित' का मत प्रामाणिक नहीं। 'रामशलाका' और 'रामाज्ञा' को एक मानने पर संवत् १६६५ माना जा सकता है क्योंकि यह समय एक प्रतिलिपि पर अंकित था जो खो गई।

कुछ उदाहरण लीजिए—

"चारिउ कुँवर बियाहि पुर, गवने दशरथ राउ।
भए मंजु मङ्गल सगुन, गुरु सुर संभु पसाउ॥
असमंजसु बड़ सगुन गत, सीता राम बियोग।
गवन बिदेश कलेस कलि, हानि पराभव रोग॥"

वैराग्य संदीपनी—शान्त रस के इस ग्रंथ का जैसा नाम है वैसा ही विषय है। इसमें ज्ञान, भक्ति और वैराग्य आदि का वर्णन ६२ छंदों में किया गया है। स्वयं तुलसीदास जी कहते हैं—

"तुलसी वेद पुरान मत, पूरन शास्त्र विचार।
यह विराग संदीपनी, अखिल ज्ञान को सार॥"

भाषा की दृष्टि से इनकी रचना शिथिल है। इस पर तत्कालीन भक्तिवाद का भी प्रभाव जान पड़ता है। उदाहरण से यह हो जायगा—

"जहाँ सांति सतगुरु की दई। तहाँ क्रोध की जर जरि गई॥

+ + + +

अति कोमल अति विमल रुचि, मानस में मल नाहिं।
तुलसी रत मन होइ रहै, अपने साहिब माहिं॥"

वर्णन के लिये कुल तीन प्रकार के छन्दों का आश्रय लिया गया है—दोहा, सोरठा और चौपाई। 'गोसाईंचरित' के अनुसार इसका रचना-काल संवत् १६६६ है परन्तु बाबू श्यामसुन्दरदास और डा० बड़थ्वाल इसे सं० १६४० से पूर्व का मानते हैं।

पार्वती मंगल—गोस्वामी जी के समय में वैष्णवों और शैवों में तनातनी रहती थी इसके परिणाम स्वरूप गोस्वामी जी को कष्ट भी हुआ परन्तु उनके हृदय में शिव के प्रति अपार श्रद्धा थी।

स्थान स्थान पर उन्होंने शिव के प्रति भक्ति के भाव प्रकट करके अपनी सच्ची उदारता का परिचय दिया है। रामायण में गौरी के पूजन को स्थान देकर उन्होंने शिव की महिमा को ऊँचा स्थान दिया और साम्प्रदायिक भावों को मधुर बनाने का क्रियात्मक उद्योग किया।

इस ग्रंथ का आधार 'कुमारसंभव' है और इसमें शिव-पार्वती

के विवाह की कथा है। 'रामचरितमानस' में वर्णित पार्वती के विवाह से इसमें किया गया वर्णन कुछ भिन्न है। लौकिक व्यवहार का भी समावेश हुआ है। सम्पूर्ण रूप से विचार करने पर इसकी कथा 'रामचरितमानस' की कथा से अधिक सुन्दर और काव्यमय है। इसकी भाषा अवधी है। छन्दों की संख्या १६४ है जिसमें से अधिक अरुण और कुछ हरिगीतिका हैं।

रचनाकाल इसमें दिया हुआ है और उसी के अनुसार मंगलवार फाल्गुन शुक्ल पांच संवत् १६६३ ही ठीक मानना चाहिये।

कुछ उदाहरण देखने योग्य हैं—

"पितु मातु प्रिय परिवार हरखहिं निरखि पालहिं लालहीं।
सित पाख बाढ़ति चंद्रिका जनु चंद्रभूषन भाल हीं॥
+ + + +
साँच सनेह साँचि रुचि जो हठि फेरइ। सावन सरित सिंधुरुख सूप सों घेरइ॥
+ + + +
मनि बिनु फनि, जल हीन मीन तनु त्यागइ। सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ॥
+ + + +
कहुँ तिय होहिं सयानि सुतहिं सिख राउरि। बौरेहि के अनुराग भइउँ बड़ि बाउरि।
+ + + +
जैसे जनम दरिद्र महामनि पावइ। पेखत प्रगट प्रभाउ प्रतीति न आवइ॥"

गीतावली—इस ग्रंथ की रचना फुटकर पद्यों के रूप में हुई जान पड़ती है। क्योंकि इसमें कथा का प्रवाह नहीं है जो प्रबंध-काव्यों में होना चाहिये। रामचन्द्र की कथा सात काण्डों में विभक्त है परन्तु विस्तार का कोई नियम नहीं है। कुल पदों की संख्या ३२८ है। बालकाण्ड में जहाँ १०८ पद हैं वहाँ किष्किन्धा में केवल दो। यह और अनेक दूसरी त्रुटियाँ इसे प्रबंध रूप में देखने से ही जान पड़ती हैं। इस रचना पर कृष्ण भक्तों की रचना-पद्धति का स्पष्ट प्रभाव है। परन्तु रचना कौशल की दृष्टि से गोस्वामी जी आगे हैं, पीछे नहीं। बाल-चरित के वर्णन में तो तुलसीदास जी ने बड़ी सफलता प्राप्त की है। कहीं कहीं जहाँ वर्णन लम्बे हो गये हैं वहाँ गीतात्मकता की दृष्टि से कविता बहुत सफल नहीं कही जा सकती। गीतों में—वर्णन का विस्तार न होकर यदि आत्माभिव्यक्ति, संगीत और संक्षेप का भाव हो तो अच्छा होता है।

आत्माभिव्यक्ति के अवसर कम आये हैं फिर भी जहाँ हृदय के भावों को व्यक्त करने का अवसर आया है तुलसीदास जी चूके नहीं हैं। राम का वह लोकरञ्जन और लोकरक्षक रूप यहाँ नहीं दीखता और न यह आवश्यक ही जान पड़ता है। हाँ राम के शारीरिक सौंदर्य को जिस प्रकार स्थान मिला है उसी प्रकार शील के लिये भी होता तो निस्सन्देह ग्रन्थ का मूल्य कई गुना बढ़ जाता।

इसकी रचना के सम्बन्ध में बड़ी मनोहर जनश्रुति है। 'गोसाईं-चरित' में इसका उल्लेख है। कहते हैं एक बार किसी बालक ने आकर तुलसीदास जी को गीत सुनाया। उसे सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए और उसे चार नये पद लिख कर दिये। वह प्रतिदिन आता और पिछले पद सुनाकर तुलसीदास जी से नये पद्य लिखवाता। इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना कराने का श्रेय एक बालक को है। श्री रामकुमार वर्मा इसका रचना-काल संवत् १६४३ के आसपास मानते हैं—

छन्दों के स्थान पर रागों का प्रयोग हुआ है। रसों का पर्याप्त परिपाक हुआ है और शृङ्गार, करुण, वात्सल्य, अद्भुत, शान्त, वीर, रौद्र और भयानक के उदाहरण मिलते हैं। हास्य कम है और बीभत्स बिलकुल नहीं। कुछ पँक्तियाँ देखिये—

"मेरे बालक कैसे धौं मग निबहैंगे।
भूख पियास सीत स्रम सकुचनि, क्यों कौसिकहि कहैंगे।

\+ + +

जब तें लै मुनि संग सिधाये।
राम लखन के समाचार सखि, तब ते कछुअ न पाये॥
बिनु पानही गमन, फल भोजन, भूमि सयन तरु छाहीं,
सर सरिता जल पान, सिसुन के, संग सुसेवक नाहीं।

\+ + +

सुनि रन घायल लखन परे हैं,
स्वामि काज संग्राम सुभट सो, लोहे ललकारि लरे हैं।

\+ + +

बैठी सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुशल घर कहहु काग फुरि बाता॥
दूध भात की दोनी देहौं सोने चोंच मढ़ैहौं।
जब सिय सहित विलोकि नयन भरि रामलखन उर लैहौं॥"

कृष्णगीतावली—इस पुस्तक का सम्बन्ध रामभक्ति से नहीं है तथापि कृष्णभक्ति पर सर्वश्रेष्ठ रामभक्ति कवि की एकमात्र रचना का उल्लेख आवश्यक है। बल्लभ कुल के गोसाइयों के सम्पर्क में आने से ही इस पुस्तक की रचना हुई होगी। उनसे गोस्वामी जी का सम्पर्क काशी में ही हुआ होगा अस्तु अनुमान से इस ग्रन्थ की रचना उनके काशीवास के समय में काशी में ही हुई होगी। 'गोसाईं-चरित' के अनुसार इसकी रचना का समय संवत् १६२८ है। गीतावली के समान ही इसमें छन्दों का नहीं रागों का उल्लेख है। पदों की संख्या केवल ६१ है। प्रौढ़ावस्था की रचना होने के कारण भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से यह ग्रन्थ सुन्दर है।

पुस्तक का विषय कृष्ण की कथा है और शैली सूर के समान। बाललीला, गोपी-उपालम्भ, भ्रमरगीत आदि वर्णन के विषय हैं। इन पदों में हृदय को द्रवित करने वाले भाव हैं और ये लालित्य में किसी प्रकार भी 'सूरसागर' के पदों से कम नहीं हैं। इस रचना से तुलसीदास जी की प्रतिभा और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की क्षमता का पता लगता है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है और शैली सरल। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

"कहि पारथ सारथिहिं सराहत गई बहोरि गरीब निवाजी।

\+ + +

पावक बिरह समीर स्वास तनु-तूल मिले तुम्ह जारनि हारे।

\+ + +

धान को गांव पयार तें जानिय, ज्ञान विषय मन मोरे।
तुलसी अधिक कहे न रहे रस गूलरि को सो फल कोरे॥"

विनयपत्रिका—विनयपत्रिका का आरम्भ मंगलाचरण से हुआ है। अस्तु यह पूर्ण ग्रन्थ है, संग्रह नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि उसके पद अलग अलग हैं परन्तु उसमें एक क्रम है। स्मार्त वैष्णवों की रीति के अनुसार उन्होंने पहले पंचदेवों (विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश) की स्तुति की है।

विनयपत्रिका में राम के अतिरिक्त अन्य देवताओं की भी स्तुति है। जिनमें अपने उद्धार के लिये उन्होंने उनसे प्रार्थना की है। काशी की प्रशंसा भी की गई है, कलिकाल का भयंकर वर्णन है। सारी रचना में ही कवि ने बड़ी स्वतन्त्रता से काम लिया है परन्तु राम को प्रसन्न करने का भाव प्रायः सर्वत्र विद्यमान है।

ये रचनायें गाने के लिये हैं इस लिये प्रत्येक पद स्वतन्त्र है। यही कारण है कि बारम्बार एक ही भाव और विचार की पुनरुक्ति दिखाई देती है। राम की महिमा वर्णन करते तुलसी कभी नहीं थकते इस लिये उनके गुणगान में पुनरुक्ति का बाहुल्य है। विनय-पत्रिका में २७९ पद हैं। इनमें से कुछ पदों की प्रामाणिकता के संबंध में सन्देह भी है। इसका रचनाकाल 'गोसाईं-चरित' के अनुसार संवत् १६३९ माना जाता है परन्तु श्यामसुन्दरदास जी के मतानुसार इसका रचना काल संवत् १६६६ है। काव्यकला की दृष्टि से यह गीति काव्य का उत्कृष्ट नमूना है। भक्तों और साहित्यिक जनता में इसका बड़ा आदर है। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

"मैं तोहिं अब जान्यो संसार।
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार।

\+ \+ \+

केशव कहि न जाइ का कहिये।
देखत तब रचना बिचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये।
शून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटै न मरै भीति दुख पाइय एहि तन हेरे।

\+ \+ \+

सुख हित कोटि उपाय निरन्तर करत न पायँ पिराने।
सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने।

\+ \+ \+

कह्यो राज बन दियो नारि बस गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ।"

बरवै रामायण—इस ग्रंथ का रचना काल 'गोसाईं-चरित' के अनुसार सं० १६६९ है, परन्तु यह एक संग्रह-ग्रंथ है। संग्रह-ग्रंथ के सम्बन्ध में कोई निश्चित समय नहीं हो सकता। ग्रन्थ कवि की युवावस्था का लिखा जान पड़ता है।

इसमें राम की कथा का अनियमित रूप में विस्तार है। सारा ग्रंथ बरवै छन्द में है और छन्दों की कुल संख्या ६९ है इतने छोटे से ग्रंथ में सारी बातें आ भी तो नहीं सकतीं। काव्यकला की दृष्टि से ग्रंथ उत्तम है परन्तु भावों की गम्भीरता नहीं है। इसकी भाषा पूर्वी अवधी है।

कुछ लोगों का यह विचार हो रहा है कि यह खंडित काव्य है और कुछ लोगों के मत में यह तुलसीदास की रचना ही नहीं है। इस ग्रंथ की रचना की प्रेरणा इन्हें 'रहीम' से मिली थी ऐसी जनश्रुति है इसके कुछ उदाहरण देखिये—

बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाय। ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुझाय।

+ + +

केहि गिनती महँ गिनती जस बनघास। राम जपत भये तुलसी तुलसी दास॥

+ + +

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ। कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ॥

दोहावली—दोहावली में तुलसीदास के लिखे दोहों का संग्रह है। बहुत से दोहे अन्य ग्रन्थों से लिये गये हैं जैसे रामाज्ञा-प्रश्न और वैराग्य-संदीपनी। दोहों की कुल संख्या ५७३ है।

'गोसाईंचरित' के अनुसार उसका समय संवत् १६४० है। परन्तु विभिन्न ग्रंथों के पद्यों का संग्रह होने के कारण इसका रचना काल स्थिर करना कठिन है।

पुस्तक के संग्रह सम्बन्ध में विद्वानों को सन्देह है। कुछ लोगों का विचार है कि तुलसीदास जी के पश्चात् किसी अन्य व्यक्ति ने इस ग्रंथ का संग्रह किया है। इसके उदाहरण लीजिये—

लही आँखि कब आँधरे, बाँझ पूत कब ल्याय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय।

+ + +

काल तोपची तुपक महि, दारू अनय कराल।
पाप पलीता कठिन गुरु, गोला पुहुमी बाल॥

कवितावली—कवितावली में राम के चरित का वर्णन है। इसमें रामचरित के पराक्रम आदि पौरुषपूर्ण भाग का अच्छा वर्णन है वस्तुतः विषय की दृष्टि से यह गीतावली की पूरक है। गीतावली में कोमल भावों की अधिकता है, परुष भावों की नहीं।

इसकी रचना फुटकर पद्यों के रूप में हुई है। ऐसा जान पड़ता है कि इसमें समय समय पर लिखे गये तुलसीदास जी के पद्यों का संग्रह है। यही कारण है कि जहां बहुत से प्रकरणों का विस्तार से वर्णन है वहीं बहुत से प्रकरण बिलकुल उपेक्षित रह गये हैं।

कवितावली में कुल ३२५ छन्द हैं, जो सात कांडों में विभक्त हैं। इनका विभाजन छन्दों की संख्या की दृष्टि से नितान्त विषम अनुपात में है। उत्तरकाण्ड में १८३ छन्द हैं तो अरण्यकांड में एक। इसमें केवल चार प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुए हैं—सवैया, कवित्त, छप्पय और झूलना। उदाहरण के लिये कुछ पंक्तियाँ देखिये—

"छोनी में के छोनीपति छाजै जिन्हें छत्र छाया
छोनी छोनी छाये छिति आये निमिराज के।
प्रबल प्रचण्ड बरिबण्ड बर बेष बपु
बरबै को बोलै वैदेही बर काज के।
+ + +
जहाँ तहां बुबुक बिलोकि बुबकारी देत
जरत निकेत धाओ धाओ लागि आगि रे।
कहाँ तात, मात, भ्रात, भगिनी भामिनी भारी
छोटे छोटे छोहरा अभागे भोर भागि रे।
हाथी छोरो घोरा छोरो महिष वृषभ छोरो
छोरी छोरो, सोवै सो जगावो जागि जागि रे।
तुलसी बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं
बार बार कह्यौ पिय कपि सों न लागि रे।
+ + +
लंगूर लपेटत पटकि भट जयति राम जय उच्चरत।
तुलसी पवननन्दन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत।"

कुण्डलिया रामायण के सम्बन्ध में अब तक विद्वानों ने कोई मत स्थिर नहीं किया, परन्तु पं० सत्यनारायण जी पांडेय ने उसके संबन्ध में बहुत कुछ अनुशीलन किया है। उसकी जो प्रति उन्हें मिली है उसकी प्रामाणिकता उन्होंने सिद्ध की है। स्वयं महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने उसके संबन्ध में लिखा था, "मैंने इस आज तक अप्राप्य पुस्तक के कई अंश पढ़ कर देखे, इसकी भाषा शैली और इसके भाव इस बात के सबूत हैं कि यह रचना गोस्वामी जी की ही है।" स्व० आचार्य शुक्ल जी तुलसीदास के पहले कुंडलिया छन्दों का प्रयोग नहीं मानते, उन्होंने तुलसीदास को इसका ही आविष्कारक माना है। इस ग्रन्थ में आठ प्रकार के कुंडलिया छन्द हैं। तुलसीदास की अन्य रचनाओं से इसके भाव और भाषा में बहुत साम्य है—

"आँगन रानी चलन सिखावति चारयो सुत कर लाई।
गिरत परत उठि चलत हँसत पुनि रोवत रहत रिसाई॥
रोवत रहत रिसाई झाँगुली टोपी डारैं।
मुकतन माल विदारि नयन भरि नीर निहारैं।
नीर निहारैं कहत सुनित अति तोतरि बानी।
भजत भौन को पैठ धरति लै आँगन रानी॥"

तुलसीदास जी जहां भक्त थे वहीं उच्च कोटि के कवि। अगले अध्याय में उनकी काव्यप्रतिभा देखिये।

पंचम अध्याय

गोस्वामी जी की कविता : काव्य-कौशल

गोस्वामी जी बालकांड में कविता के संबन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं—

"कीरति भनित भूति भलि सोई। सुरसरि सम सबकर हित होई॥"

वस्तुतः गोस्वामी जी की कविता में भी यही गुण वर्तमान हैं। यद्यपि उन्होंने अपने निरभिमान स्वभाव के कारण अपने कवि न होने की उच्चस्वर से घोषणा की है—

"कबि न होउँ नहिं बचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥"

\+ \+ \+

कवित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे॥

\+ \+ \+

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावौं। मति अनुरूप राम गुन गावौं॥"

तुलसीदास जी ने कवि के कर्तव्य को बड़ी सुन्दरता से निभाया है।

कविता में रस का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। रस के बिना कविता निष्प्राण हो जाती है। तुलसीदास की रचनाओं में सब प्रकार के रसों का समावेश है।

शृङ्गार—

एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूषन राम बनाये॥
सीतहिं पहिराये प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर॥

(रामचरितमानस)

चँपक हरवा अँग मिलि अधिक सुहाइ। जानि परे सिय हियरे जब कुँभिलाइ॥
(बरवै रामायण)

वीर—

रिपु बलवन्त देखि नहिं डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं॥

कतहुँ बिटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत॥
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
विकट कटक बिद्दरत बीर बारिद जिमि गज्जत॥ (कवितावली)

करुण—

जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिवर कर हीना॥
अस मम जिवन बन्धु बिनु तोहीं। जौ जड़ दैव जिआवइ मोहीं॥
(रामचरितमानस)

अद्भुत—

देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मण्ड॥ (रामचरितमानस)

रौद्र—

माथे लखन कुटिल भइ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें॥

हास्य—

बिन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनि वृन्द सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

बीभत्स—

सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुवा से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।

वात्सल्य—

धूसरि धूरि भरे तनु आये। भूपति बिहँसि गोद बैठाये॥

\+ \+ \+

भूप बिलोके जबहिं मुनि, आवत सुतन्ह समेत।
उठे हरषि सुख सिन्धु महँ, मनहुँ थाह सी लेत॥

भयानक—

लागि लागि आगि भागि भागि चले जहाँ तहाँ
धीय को न माय बाप पूत न सँभारहीं।

छूटे बार बसन उघारे धूम धुन्ध अन्ध,
कहैं बारे बूढ़े बारि बारि बार बारहीं।
हय हिहिनात भागे जात घहरात गज
भारी भीर ठेलि पेलि रौंद सौंद डारहीं।
नाम लै चिलात बिललात अकुलात अति,
तात तात तौंसियत झौंसियत झारहीं॥

शान्त—

कबहुँक हौं इहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो।
जथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरन्तर मन-क्रम-बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान सम सीतल मन पर गुन अवगुन न कहौंगो।
परिहरि देह जनित चिन्ता दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो।

(विनयपत्रिका)

रसों के विभिन्न अंग-उपांगों—भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के उदाहरणों की रचना में कोई कमी नहीं है।

अलङ्कारों की योजना में तुलसीदास जी का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों की अपूर्व छटा से उनकी शोभा बहुत बढ़ गई है। कोई भी ऐसा अलङ्कार नहीं जिसका उदाहरण इनकी रचना में न मिले। बरवै रामायण में अलङ्कारों की बहुत ही अच्छी योजना हुई है। इतना होने पर भी कहीं ऐसा नहीं जान पड़ता कि अलङ्कार प्रदर्शन के विचार से उनको स्थान दिया गया है। कुछ उदाहरण देखने योग्य हैं—

अनुप्रास—

दीनबन्धु दीनता दरिद्र दाह दोष दुख दारुन दुसह दर दुरित हरन।

(विनयपत्रिका)

यमक—

श्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु वानी॥

(रामचरितमानस)

उत्प्रेक्षा—

छोनित छींटि छटानि जटे, तुलसी प्रभु सोहैं महा छवि छूटी।
मानो मरक्कत सैल बिसाल में, फैलि चली बर बीर बहूटी॥
(कवितावली)

लता भवन ते प्रगट भये, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु, जलद पटल बिलगाइ॥
(रामचरितमानस)

रूपक—

अंगद दीख दसानन बइसे। सहित प्रान कज्जल गिरि जैसे॥
भुजा बिटप सिर शृङ्ग समाना। रोमावली लता जनु बाना॥
मुख नासिका नयन अरु काना। गिरि कन्दरा खोह अनुमाना॥
(रामचरितमानस)

उपमा—

समरथ को नहिं दोष गोसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं॥
(रामचरितमानस)

उल्लेख—

जिनकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखि तिन तैसी॥
(रामचरितमानस)

व्यतिरेक—

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ,
निसि मलीन वह निस दिन यह बिकसाइ।
(बरवै रामायण)

उन्मीलित—

चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सुहाई। जानि परे सिय हियरे जब कुम्हिलाइ।
(बरवै रामायण)

अपह्नुति—

कह प्रभु हँसि जनि हृदय डेराहू। लूक न असनि केतु नहिं राहू॥
ये किरीट दसकन्धर केरे। आवत बालि-तनय के प्रेरे॥
(रामचरितमानस)

परिसंख्या—

दण्ड जतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
जीतिय मनहिं सुनिय अस, रामचन्द्र के राज॥ (रामचरितमानस)

दृष्टान्त—

प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अग्नि धूम, गिर सिर तृन धरहीं॥

(रामचरितमानस)

वैसे तो प्रसंग के अनुसार तुलसीदास की कविता में ओज, प्रसाद, माधुर्य तीनों गुण पाये जाते हैं। परन्तु प्रधानता प्रसाद गुण की है। वीर, रौद्र, बीभत्स और भयानक रसों के प्रसंग में टवर्ग, संयुक्ताक्षर आदि लाकर इन्होंने कविता को ओजस्वी बना दिया है। ओज गुण की रचना का एक उदाहरण लीजिये—

जंबुक निकर कटक्कट कट्टहिं। खाहिं हुआहिं अघाहिं दपट्टहिं।
कोटिन्ह रुंड मुंड बिन डोल्लहिं। सीस परे महि जय जय बोल्लहिं॥

(रामचरितमानस)

प्रसादगुण में भाषा सरस होती है और भाव बड़ी सरलता से समझ में आ जाते हैं उदाहरण के लिये ये पंक्तियाँ देखिये—

जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात करम निज तें गति पाई।

(रामचरितमानस)

माधुर्य गुण के लिये क, त, न, ल, स आदि मधुर वर्णों और छोटे समासों की आवश्यकता होती है। उदाहरण देखिये—

जिनकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

\+ \+ \+ \+

सुनि सनेह साने वचन, मुनि रघुबरहिं प्रसंस।
राम कस न तुम कहउ अस, हंस बंस अवतंस॥

जितने अधिक छन्दों का सफल प्रयोग तुलसीदास जी ने किया है हिन्दी साहित्य में केशव को छोड़ किसी अन्य कवि ने नहीं किया। प्रायः देखा जाता है कि कवि कुछ विशेष छन्दों में ही सफल रचना करने में समर्थ होते हैं।

रामचरित-मानस में गोस्वामी जी ने आठ प्रकार के मात्रिक और ग्यारह प्रकार के वर्ण वृत्तों का व्यवहार किया है। अन्य ग्रंथों में और भी छन्दों का प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं विभिन्न छन्दों के मेल से नये छन्द भी बनाये गये हैं। तुलसीदास जी ने जिन छन्दों का प्रयोग किया वे निम्नलिखित हैं।

दोहा, सोरठा, चौपाई, चौपैय्या, तोमर, डिल्ला, त्रिभङ्गी, हरिगीतिका, सोहर, बरवै, अरुण (मंगल), छप्पय, झूलना, मत्त-

गयन्द, घनाक्षरी, सवैया, कवित्त, अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, तोटक, नग-स्वरूपिणी, भुजंगप्रयात, मालिनी, रथोद्धता, वसंततिलका, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा।

इन छन्दों का उदाहरण देने से बहुत अधिक विस्तार हो जायगा। एकाधिक छन्दों के मेल से बने हुए छन्द का एक उदाहरण लीजिये—

ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहु भेंट्यो केवट उठि॥
भरि अंक भेंट्यो सजल नयन सनेह शिथिल सरीर सों।
सुर-सिद्ध मुनि कवि कहत कोउ न प्रेमप्रिय रघुबीर सों॥
खग सबरि निसिचर भालु कपि किये आपुतें बंदित बड़े।
तापर तिन्हकि सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े॥(विनयपत्रिका)

मिले हुए छन्द प्रायः हरिगीतिका के मेल से ही बनाये गये हैं। ऊपर के छन्द के अन्तिम चार पद हरिगीतिका के हैं। इनके अतिरिक्त प्रचलित छन्दों में कुछ मात्रायें बढ़ाकर या घटाकर भी इन्होंने छन्दों की रचना की है। जैसे--

देश काल पूरन सदा, बद बेद पुरान। सब को प्रभु सब में बसे, सब की गति जान॥
(विनयपत्रिका)

गीतावली और विनयपत्रिका में छन्दों की नहीं रागों की प्रधानता है। तुलसीदास जी ने निम्नलिखित रागों का प्रयोग किया है—आसावरी, जयतश्री, बिलावल, केदारा, सोरठ, घनाश्री, कान्हर, कल्याण कलित, विभास, नट, टोड़ी, सारंग, सूहो, मलार, गौरी, मारू, भैरव, चंचरी, वसंत और रामकली।

हिन्दी कविता में तुकान्त कविता की प्रधानता है। तुलसीदास जी की कविता में तुकों का मेल बड़ा सुन्दर होता है। जैसे—

केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास। राम जपत भये तुलसी तुलसी दास॥
(बरवै रामायण)

+ + + +

कहेउ राम बियोग तब सीता। मो कहँ सकल भये विपरीता॥ (रामचरितमानस)

पहले ही कहा जा चुका है कि तुलसीदास जी की कविता में प्रसाद गुण की प्रधानता है। प्रसाद गुण में प्रवाह अपेक्षित है ही परन्तु जहाँ उन्होंने ओज-गुण पूरित रचना की है वहाँ भी प्रवाह में शैथिल्य नहीं आया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनकी रचना में

प्रवाहावरोध कहीं नहीं हुआ। प्रवाहयुक्तता का उदाहरण ढूंढ़ना व्यर्थ है। क्योंकि सारी रचनायें ही गुण से परिपूर्ण हैं। प्रवाहावरोध के उदाहरण लीजिये--

"सुनहु परम पुनीत इतिहासा। जो सुनि सकल सोक भ्रम नासा॥"

(रामचरितमानस)

तुलसीदास जी अत्यन्त भावुक थे। उनकी कविताओं में हृदय की कोमल वृत्तियों को अच्छा स्थान मिला है। संयोग और वियोग के स्थलों में, पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-भाई, मित्र-मित्र, भक्त और भगवान, स्वामी और सेवक तथा जन्मभूमि आदि के संबन्ध में जो कोमल भावनाएँ प्रगट की गई हैं उन्हें पढ़कर हृदय गद्गद हो उठता है। भक्त के प्रेम का एक उदाहरण लीजिये—

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥ (रामचरितमानस)

पति प्रेम का यह पद कितना सुन्दर है--

बिरह बिषम विष बेलि बढ़ी उर, ते सुख सकल सुभाय दहे री।
सोइ सींचिंव लागि मनसिज के, रहँट नयन नित रहत नहे री॥ (गीतावली)

पत्नी प्रेम की ये पंक्तियाँ कितनी सुन्दर हैं—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मनु मोरा।
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस इतनेहि माहीं॥

(रामचरितमानस)

राजा दशरथ के ये अन्तिम वचन संतति प्रेम की चरमसीमा बताते हैं—

हा रघुनन्दन प्रान पिरीते। तुम बिनु जियत बहुत दिन बीते॥
हा जानकी लखन हा रघुबर। हा पितु-हित-चित-चातक-जलधर॥
राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर-बिरह, राउ गयेउ सुरधाम॥ (रामचरितमानस)

लंका से लौटने पर भरत को विरक्त के वेष में देख कर रामचन्द्र का हृदय प्रेम से भर जाता है। वे अपने ही हाथों से भरत की जटा साफ करके तीनों भाइयों को स्नान कराते हैं—

"पुनि करुनानिधि भरत हँकारे। निज कर जटा राम निरुआरे॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई। भगत बछल कृपालु रघुराई॥
भरत भाग्य प्रभु कोमलताई। सेष कोटि सत सकहिं न गाई॥"

(रामचरितमानस)

ऐसे सुन्दर स्थलों की मानस में कमी नहीं है।

जहाँ तुलसीदास जी एक महाकवि थे वहीं उनकी विद्वत्ता और सर्वाङ्गपूर्ण ज्ञान का परिचय हमें उनके ग्रन्थों से मिलता है।

उन्हें वनस्पति जगत का बहुत अच्छा ज्ञान था। उपमा आदि के लिये उन्होंने बहुत सी वनस्पतियों का नाम लिया है। उनकी उत्पत्ति, प्रयोग, समय आदि के सम्बन्ध में प्रसंग के अनुसार उन्होंने बहुत कुछ कहा है। केला, अर्क, जवास, मोरसिखा, गूलर, भोजपत्र, कमल, अनार, सन, आम, कुम्हड़ा, नीम, धान, चन्दन, बेत आदि के नाम बहुत बार आते हैं।

जीवों के विषय में भी उनका ज्ञान विस्तृत था। कहीं कहीं कवियों में प्रचलित विश्वास के अनुसार भी वर्णन है, परन्तु अधिकांश में उनका वर्णन अपने ढंग का निराला है। हंस, कोयल, कौआ, हिरन, सिंह, मछली, सांप, चातक, जोंक, रेशम का कीड़ा, मयूर, हाथी, घोड़े, रीछ, बन्दर आदि का वर्णन स्थान २ पर हुआ है।

तुलसीदास जी को गणित और ज्योतिष का अच्छा ज्ञान था। यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है। उनकी गणितज्ञता का एक नमूना देखिये—

राम नाम को अंक है, सब साधन है सून।
अंक गये कछु हाथ नहिं। अंक रहे दस गून॥

निम्नलिखित दोहे से उनके ज्योतिष-ज्ञान का परिचय मिलता है—

समउ राहु रवि गहनु मति, राजहि प्रजहि कलेस।
सगुन सोच संकट बिकट, कलह कलुष दुख देस॥ (रामाज्ञा-प्रश्न)

गोस्वामी जी की रचनाओं का एक बड़ा भाग गाने योग्य पदों में है। उनका निर्माण गाने के लिये ही हुआ था। यह बात उन पदों से स्पष्ट हो जाती है। तात्पर्य यह कि गोस्वामी जी को संगीत शास्त्र का अच्छा और व्यापक ज्ञान था।

उनके नीति संबंधी पदों का उल्लेख न करके यह कहना पर्याप्त है कि उनके ग्रन्थ के आधार पर एक पृथक् नीति शास्त्र की रचना हो सकती है। राजनीति के सम्बन्ध में जहाँ तहाँ राजा और प्रजा के कर्तव्य बताने वाली पंक्तियाँ पाई जाती हैं। दर्शन शास्त्रों में

विशेषकर वेदान्त के सम्बन्ध में उनका अच्छा ज्ञान था। ब्रह्म माया आदि के विषय में उन्होंने बहुत से स्थलों में विचार किया है।

तुलसीदास जी ने अवधी और ब्रजभाषा इन दो भाषाओं में ही अपनी रचना की है। 'रामचरितमानस' 'बरवै रामायण' आदि अवधी में है तथा 'कवितावली' 'गीतावली' आदि ब्रजभाषा में। लोगों का कहना है कि उनकी रचना में शुद्ध अवधी और शुद्ध ब्रजभाषा का अभाव है। वस्तुतः भाषा के सम्बन्ध में गोस्वामी जी कठोर नियमों का पालन नहीं करते थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में भोजपुरी, बुंदेलखंडी, छत्तीसगढ़ी, राजपूतानी, गुजराती, बंगला, मरहठी, शुद्ध संस्कृत, अरबी और फारसी के शब्दों का स्वतन्त्रता से प्रयोग किया है। बहुत से मुहावरों और कहावतों का प्रयोग करके उन्होंने अपनी भाषा को सरस और लोकप्रिय बना डाला है—

भोजपुरी—	सरल=सड़ा हुआ	**गुजराती—**	मूकना = छोड़ना
	राउर=आपका	**मराठी—**	पँवारा = कीर्ति
बुन्देलखण्डी—	सुपेती=रजाई	**संस्कृत—**	पश्यन्ति = देखते हैं
	कोपर=परात		एतादृश = ऐसा
छत्तीसगढ़ी—	डगर = मार्ग	**फ़ारसी—**	बरात = बरात
	जूना = पुरा		नीकी (नेक) = अच्छी
राजपूतानी—	पूरना = भरना	**अरबी—**	ग़रीब = ग़रीब
	खये=कन्धा		साहिब = स्वामी

इसके अतिरिक्त उन्होंने कई क्रियाओं की रचना भी की है जैसे—उपदेसना, आरना, पीड़ना आदि। व्याकरण विरुद्ध और देहाती शब्दों के प्रयोग का भी इन्होंने बहिष्कार नहीं किया है।

मुहाविरे—नाक संवारत आयौं हौं नाकहि, महा मंद अंध दशकन्ध न करत कान

लोकोक्तियाँ—मनो जरे पर लोन लगावति। अरध तजहिं बुध सरबस जाता॥

षष्ठ अध्याय

गोस्वामी जी की भक्ति-भावना

गोसाईं जी की भक्तिभावना का क्या रूप था और भारतीय भक्ति संप्रदाय में उसका क्या स्थान था इस विवेचना से पूर्व

भक्तिमार्ग के इतिहास से परिचित होना आवश्यक है। भारतीय भक्तिमार्ग का विकास किस प्रकार हुआ और विष्णु पूजा के स्थान में विष्णु के अवतार राम और कृष्ण की उपासना पर आचार्यों ने किस प्रकार ज़ोर दिया इस बात का संकेत हम पहले कर चुके हैं। भक्तिक्षेत्र में शैव संप्रदाय की अपेक्षा वैष्णव संप्रदाय का अधिक प्रचार हुआ। लोक की रक्षा और स्थिति के विधायक विष्णु माने गए हैं। लोक के सहज धर्म पर जब आसुरी शक्तियों द्वारा आक्रमण होने लगता है तब विष्णु उसकी रक्षा के लिए मनुष्य का अवतार लेते हैं। साम्य-भावना के कारण मानवहृदय को भगवान् के अवतार अधिक प्रिय लगे। विष्णु में वह उतनी तल्लीनता से न रम सका। राम और कृष्ण मनुष्य के रूप में मनुष्य की सहायता करते दिखाई देते हैं। भक्त का उनसे अधिक सामीप्य का अनुभव करना स्वाभाविक ही है।

जब मुसलमानों का साम्राज्य भारतवर्ष में स्थिर हो चला तब उनकी आक्रमणकारी नीति में भी परिवर्तन होने लगा। अत्याचार का दौर दौरा बंद तो न हुआ था पर वे यह समझने लगे थे कि भारतवर्ष केवल हमारा विजित देश ही नहीं है अपितु हमें इस पर शासन स्थिर रखना है। उनमें इस देश के प्रति अपनेपन की भावना का प्रादुर्भाव हो चुका था। ऐसी दशा में एक-दूसरे धर्म वालों के परिचय की निकट आने की इच्छा स्वाभाविक थी। हिन्दू भी उस समय अपनी विजय की आशा छोड़ बैठे थे और उनमें भी जीवन को सुखमय और शांत बनाने की कुछ अभिलाषा जागृत हो चुकी थी। वे विजेताओं के मेल में आने के लिए लालायित नहीं तो उत्सुक अवश्य थे। पर इस सम्मिलन में सब से बड़ी बाधा थी पंडितों और मुल्लाओं का मतवैषम्य। जनसाधारण उन्हीं का अनुकरण किया करते हैं। हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति के सिद्धांत परस्पर विरुद्ध थे। आध्यात्मिक एकता के बिना जीवन की एकता संभव न थी, ऐसी परिस्थिति में महात्मा कबीर का जन्म हुआ। इनकी भक्ति भारतीय परम्परा का स्वाभाविक विकास नहीं है, यह विदेशी परम्परा की भक्ति है।

बात यह है कि मुसलमान धर्म में मूर्तिपूजा का स्थान नहीं है सगुण रूप की उपासना मुसलमानों से मेल न खाती, इसी लिए

निराकार की उपासना को लेकर कबीर आगे बढ़े, उन पर योगमार्ग का भी स्पष्ट प्रभाव है। इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य उपासना पद्धति का प्रतिपादन करना था जिसे हिंदू और मुसलमान समान रूप से अपना सकें। ये मूर्तिपूजा का खण्डन मुसलमानी जोश के साथ करते थे। गोवध की निन्दा भी इन्होंने कट्टर हिंदू की हैसियत से की है। ईश्वर के साथ संयोग होने की दशा में इनकी उक्तियाँ रहस्यमयी हो गयी हैं। इनका अलग एक पंथ चला। वेद पुराणों की निन्दा भी इन्होंने की है। इसी को लक्ष्य कर गोस्वामी जी ने कहा है—

साखी, सबदी, दोहरा, कहि कहिनी उपखान।
भगत निरूपहिं भगति कलि, निंदहिं वेद पुरान॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी भक्ति भारतीय भक्तिमार्ग से मेल नहीं खाती, उस पर विदेशी परम्परा का पूरा पूरा प्रभाव है। भारतीय भक्त भगवान् की सगुण सत्ता के स्वीकार के साथ उसकी कला के दर्शन प्रत्यक्ष जगत के बीच करता है, मन के भीतर नहीं। तुलसीदास अंतर्यामी की अपेक्षा बाह्यलोक में अपनी शाश्वत कला के प्रकाश करनेवाले भगवान् के सगुण रूप की उपासना को श्रेष्ठ समझते थे—

"अंतरजामिहु ते बड़ बाहिरजामि हैं राम जो नाम लिए ते,
पैज परे प्रहलादहु के प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिए ते।"

भारतीय भक्त भगवान के लोकरंजक और लोकधर्मरक्षक स्वरूप पर मुग्ध रहता है। हम पहले कह चुके हैं कि भारतीय भक्ति-भावना पर विष्णुपूजा का प्रभाव प्रधानतया पड़ा है और विष्णु स्थितिरक्षा के विधायक हैं। कबीर ने भगवान् का लोकरंजक और लोकधर्मरक्षक स्वरूप न अपनाया। वे केवल हिंदू और मुसलमान विचारधाराओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने में लगे रहे।

सूफी संप्रदाय के कवियों की साधना अधिकतर इन्हीं के मेल में थी, सूफी कवि प्रायः मुसलमान थे। कबीर ने केवल आध्यात्मिक सामंजस्य-साधन का ही प्रयत्न किया था। मानव जाति के हृदय में एक ही प्रकार की रागात्मक भावना का प्रसार पाया जाता है। उसमें मतवैषम्य के कारण विषमता उत्पन्न नहीं होती। अत्याचार पर क्रोध, दरिद्रता पर करुणा और वीरता को देख कर

हर्ष का संचार समान भाव से सब में होता है। सूफी कवियों ने हिंदुओं के घर की कहानियों को लेकर उनमें कल्पना का पुट देकर प्रेमगाथाओं की रचना की। इस प्रकार सूफी कवियों ने हृदयगत वैषम्य को दूर करने का प्रयत्न किया। कबीर की आध्यात्मिक एकता के प्रयत्न के बाद दोनों जातियों के हृदयों को एक दूसरे के निकट लाने की आवश्यकता बाकी थी। इन कवियों ने लौकिक प्रेम के बहाने उस गूढ़ प्रेमतत्व की व्यंजना की है जो असीम की ओर मन को लगा देता है। लौकिक व्यापारों के बीच जहाँ भी आध्यात्मिक संकेत सूफी कवि करते हैं वहाँ उनकी रचना रहस्यात्मक हो जाती है। नाथपंथियों का पूरा प्रभाव इन पर पड़ा था, सूफी कवियों में जो मुसलमान थे उन्होंने मंगलाचरण में मुहम्मद साहब की बंदना और शाहेवक्त (तत्कालीन बादशाह) की प्रशंसा भी की है। इनकी रचनाएँ अवधी भाषा में दोहा चौपाई छंद में पाई जाती हैं। सूफी कवि प्रकृति के नाना व्यापारों में—अणु-अणु में उस असीम का आभास पाते हैं। सूफी संप्रदाय की एक विशेषता और है, पहले ही हम कह आए हैं कि कृष्ण की उपासना धीरे-धीरे माधुर्यभाव की उपासना की ओर उन्मुख होती गई। कुछ लोगों का विचार है कि माधुर्यभाव की उपासना पर सूफी प्रभाव है, पर यह बात कुछ युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती। कृष्णभक्ति के अन्यतम धर्मग्रंथ भागवत के दशमस्कंध में श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम का पूरा वर्णन मिलता है। उसी का सहारा लेकर माधुर्यभाव की उपासना का प्रचार बढ़ा। भारतीय भक्त इष्टदेव को प्रियतम के रूप में देखता है और स्वयं प्रेमिका के रूप में अपनी भावनाओं का अर्पण करता है। हमारे यहाँ के दार्शनिक विवेचन में प्रकृति और पुरुष का विवेचन हुआ है। उसी का प्रभाव हमारी माधुर्यभाव की उपासना पर भी पड़ा है। पर सूफी संप्रदाय में परमात्मसत्ता की भावना प्रेमिका के रूप में की गई है। साधक गुरु के उपदेश से प्रेमिका के पास तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। वह उस असीम के प्रेम में व्याकुल रहता है। अंत में प्रेमिका का हृदय दयार्द्र होता है और प्रेमिका का हृदय भी साधक से मिलने को उत्कण्ठित हो जाता है। साधक और ब्रह्म की एकता इसी स्थिति में होती है। ईश्वर की प्रेमिका के रूप में कल्पना भी विदेशी परं-

परा का प्रभाव है। साधक और प्रेमिका के व्यापारों को व्यक्त करते समय सूफियों की उक्तियाँ स्वभावतः रहस्यमयी हो जाती हैं।

रहस्य की भावना का भारतीय भक्ति संप्रदाय में कोई स्थान नहीं है। भारतीय भक्त ईश्वर की व्यक्त सत्ता से साक्षात्कार करना चाहता है। अव्यक्त पर उसे अविश्वास नहीं है पर अव्यक्त से साक्षात्कार चिंतन द्वारा ही हो सकता है, जो जन-साधारण के लिये सुगम नहीं है। भक्ति एक रागात्मिका वृत्ति है, भक्ति एक भाव है जो हृदय से उद्भूत होता है। जो वस्तु व्यक्त नहीं है उस पर अनुराग का टिकना प्रकृतिविरुद्ध बात है, प्रेम व्यक्त सत्ता के साथ ही हो सकता है। कृष्णभक्ति संप्रदाय में माधुर्यभावना को स्थान मिल जाने के कारण उसमें रहस्य भावना का कहीं कहीं आभास अवश्य मिलता है। प्रेममार्ग की उपासिका मीरा अनुराग में मतवाली होकर 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई' का स्वर भरा करती थी। महाप्रभु चैतन्य विद्यापति के पदों को गाकर मूर्च्छित हो जाया करते थे। इन पर सूफ़ीप्रभाव कहें अथवा प्रेम का अतिरेक कहें जिसके वशीभूत होकर वे अपनी सुधबुध खो बैठते थे। मीरा की रचनाओं में कहीं-कहीं रहस्यभावना का आभास मिलता है। रामभक्ति-सम्प्रदाय में भी कृष्णभक्ति-सम्प्रदाय के अनुकरण पर सखी सम्प्रदाय का संगठन बाद में हुआ है, जिसमें राम की उपासना सखी भाव से करने का विधान है। राम मर्यादापुरुषोत्तम थे अतः इस सम्प्रदाय में यह उपासना ज़ोर न पकड़ सकी। सच्ची भक्ति के लिये माधुर्यभाव की उपासना को प्रोत्साहन देना ठीक नहीं है। इसमें इष्टदेव के प्रति समता का भाव आ जाता है। माधुर्यभाव का उपासक कुछ ढीठ हो जाता है। उसके हृदय से इष्टदेव के प्रति महत्त्व की भावना जाती रहती है। सच्ची भक्ति के लिये महत्त्व की भावना का होना अनिवार्य है। आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने भक्ति की परिभाषा बताते हुए कहा है कि दूसरे के महत्त्व का स्वीकार और अपने दैन्य का अनुभव करने से श्रद्धा का भाव जागृत होता है। जब उसके साथ प्रेम का मेल हो जाता है तभी वह भक्ति कहलाने लगती है। इसी लिये तुलसीदास जी ने दास्यभाव की उपासना पर जोर दिया है।

"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।"

सेवक का अपना पृथक् व्यक्तित्व नहीं रहता प्रभु की इच्छा ही उसकी इच्छा है। इस प्रकार उसका मन सीमित क्षेत्र में बँधा रहता है, वह अपनी चंचलता के कारण साधक का अहित नहीं कर पाता, वह प्रभु के महत्त्व को भूलता नहीं है।

कृष्णभक्ति-सम्प्रदाय के कवियों ने यद्यपि तल्लीनता का अनुभव किया है परन्तु उनका व्यक्तित्व स्पष्ट पृथक् बना रहता है। सूरदास सख्य भाव के उपासक हैं। उनकी स्वरमाधुरी ने हिन्दी-साहित्य को सरस बना दिया है, ये कृष्ण की बाललीलाओं और गोपियों की अनन्य प्रेम-भावना पर मुग्ध थे। महाभारत के कृष्ण इनकी रचनाओं में बहुत कम स्थान पा सके हैं। इन्होंने कृष्ण के लोकरंजक स्वरूप को ही अपनाया है। भगवान् का लोकधर्मरक्षक स्वरूप इनकी उपासना के लिये उतना उपयोगी न था। इनकी रचनाओं में भगवान् की जीवनव्यापिनी कला के दर्शन नहीं होते।

संपूर्ण जीवन को अनुप्राणित करने वाली भगवान् की पूर्ण-कला के दर्शन हमें तुलसीदास की रचनाओं में मिलते हैं। गोसाईं जी भगवान् के लोक-धर्म-रक्षक स्वरूप को लेकर आगे बढ़े हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि कबीर हिंदू और मुसलमान धर्म के बीच सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा में लगे रहे। उस समय हिंदू जाति निराश थी, उसने निराकार की साधना में मन लगाया, पर इससे उसकी निराशा कम न हुई, निर्गुण सत्ता से उसे अपना कोई काम साधता न दिखाई दिया। व्यक्त सत्ता के साथ तल्लीनता का अनुभव करना भी कठिन था। सूफ़ी कवि भी हिंदू जाति को आशा का संदेश न दे सके, हिन्दू और मुसलमान हृदयों के बीच पड़ी हुई विषमता को उन्होंने दूर किया। अपनी रचनाओं में उन्होंने दिखा दिया कि मानव मात्र के हृदय में भावना की एक ही धारा बहा करती है। सूरदास ने भगवान के मधुरतम रूप को सामने रखकर हिंदू जाति की नैराश्यजनित खिन्नता तो हटायी पर निराश हृदयों में आशा का संचार वे न कर सके। गोसाईं जी ने अपने मानस की रचना करके इष्टदेव का जो आदर्श सामने रखा उसे देखकर हिंदू मन आशा से नाच उठा। उन्होंने राम के जिस स्वरूप का प्रतिपादन किया है वह पूर्ण है; उनकी भक्ति-पद्धति निर्दोष और सरल है। गोसाईं जी की भक्ति भावना भारतीय भक्तिमार्ग का स्वाभाविक विकास है, विदेशी प्रभाव उसे छू तक नहीं गया।

दार्शनिकता भारतवर्ष की अपनी चीज़ है। यहाँ ब्रह्म की सत्ता पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। किसी ने ब्रह्म को सगुण प्रतिपादित किया है, तो किसी ने निर्गुण। संसार का नियमन करने वाली कोई परमात्म-सत्ता है जो ब्रह्म नाम से अभिहित होती है, इतना तो प्रायः सभी मानते हैं। भक्तिसंप्रदाय वाले ब्रह्म और जीव की एकता में विश्वास नहीं करते, वे जीव को ब्रह्म का अंश, नित्य और पृथक् सत्ता वाला मानते हैं—

'ईश्वर अंस जीव अविनासी'

जीव और ब्रह्म को एक मान लेने पर भक्ति के विकास का पूरा अवसर नहीं रहता। पृथक् रहकर भक्त ब्रह्म में मिल जाने की-उसके सामीप्य लाभ की-इच्छा करता है और प्रयत्नशील होता है। अपनी भक्तिभावना की तुष्टि के लिए तुलसी ब्रह्म की सगुण सत्ता को मानते हैं, यद्यपि वे उसकी निराकारता पर अविश्वास नहीं करते। उनका तो कहना है—'अगुन सगुन दोउ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।' ब्रह्म की त्रिविध शक्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। विष्णु के अवतार राम हैं, वे मनुष्य हैं, ईश्वर हैं, ब्रह्म के प्रतीक हैं। संसार का भार हटाने के लिए उन्हें बार बार अवतार लेना पड़ता है। विष्णु के चौबीस अवतार हैं। कबीर की तरह तुलसीदास के राम निराकार नहीं हैं। उनके राम सौंदर्य, शक्ति और शील के समन्वय हैं। तुलसीदास को भगवान् के सब अवतारों में राम ही अधिक प्रिय हैं। राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं। राम का नाम राम से भी बड़ा है—

"कहउँ नाम बड़ रामतें, निज विचार अनुसार।"

तुलसीदास जी ने राम का जो स्वरूप चित्रित किया है, उसका ध्यान यदि भक्त न कर सके तो राम का नामस्मरण ही उसे पार उतार देता है। राम का नाम भक्ति का निर्मल प्रकाश देता है और भक्ति के उदय के साथ वह राम के शक्ति, शील और सौंदर्यमयी मूर्ति का दर्शन कर आनंद से पुलकित होने लगता है। राम के नाम स्मरण से जहाँ अन्तःकरण की शुद्धि और उसमें भक्ति का निर्मल प्रकाश उत्पन्न होता है वहाँ उसका आचरण भी पवित्र हो जाता है। उसके बाह्य जीवन पर उसके रहन-सहन पर भी प्रभाव पड़ता है। वह शुद्ध आचारवाला बन सकता है। पीछे कहा जा चुका है

कि भक्ति का नित्य लक्षण सदाचार की भावना का सृजन है। राम नाम में ऐसी ही अपूर्व शक्ति है—

"राम-नाम मणि-दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरहु, जौ चाहसि उजियार॥"

गोसाईं जी ने अपनी भक्ति भावना के लिए जैसे इष्टदेव की तथ्य भावना की है उसका उल्लेख संक्षेप में हो चुका है, उनके राम विष्णु के अवतार, ब्रह्म के प्रतीक, शक्ति, शील और सौंदर्य के समन्वय हैं।

सच्ची भक्ति के लिए साधक को सदाचारी और अनन्य भाव से अनुराग रखने वाला होना चाहिए। अनुराग की साधना रागात्मिका वृत्ति की उत्तेजना होने पर ही संभव है। हृदय को आकर्षित करने के लिए ही भगवान के अनंत सौंदर्य की भावना की गई है, पर उससे भी पहले भगवान के नामस्मरण से मन को निर्मल तथा राम में अनुरक्त बनाने की व्यवस्था दी गई है, राम के नाम से "भीतर बाहिरहु" निर्मलता आती है। दूसरा साधन है राम-कथा का श्रवण, राम की अनंत लीलाओं का ध्यान करते करते साधक का मन तन्मय होने लगता है और उसमें भक्तिभावना का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार जब साधक का मन भगवान के ध्यान करने का अभ्यासी हो जाता है, उसे राम का अनंत सौंदर्य मुग्ध कर लेता है। वह आँख से राम के सौंदर्य का प्रत्यक्षी-करण चाहता है, कानों से गुणावली के श्रवण को ही लाभ समझता है, उसका हृदय उन्हीं में रम जाना चाहता है, तात्पर्य यह कि उसकी सारी इंद्रियाँ सांसारिक विषयों से मुड़कर ईश्वर की ओर उन्मुख हो जाती हैं। भगवान के शक्ति-स्वरूप का स्मरण कर उसकी भक्तिभावना में दृढ़ता आती है, अनंत शक्ति के स्वरूप राम हैं 'लव निमेष परमान जुग काल जासु कोदण्ड'। उसे यह भरोसा हो जाता है कि संसार का कल्याण करने में ये समर्थ हैं। राम के शील स्वरूप पर हृदय विमुग्ध हो रहता है और राम के शील-स्वभाव का चिंतन करते हुए उसका मन निर्मल हो जाता है। मन की निर्मलता भक्ति के लिए आवश्यक है—

"सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूती।
तुलसी सूधी सकल विधि रघुवर प्रेम प्रसूति॥"

इस प्रकार भक्त भगवान के प्रेम को प्राप्त करता है। तुलसी-

दास मुक्ति की कामना नहीं करते वे चाहते हैं राम की सेवा करना जो मुक्ति मिलने के बाद नहीं हो सकती। उन्होंने भक्ति के आनंद के लिए भक्ति-पथ का अवलम्बन किया था, पर भक्ति से वैराग्य और ज्ञान की उत्पत्ति होती है। वैराग्य और विवेक के बिना भक्ति की सत्ता ही गोसाईं जी स्वीकार नहीं करते।

"श्रुति संमत हरि-भक्ति-पथ, संजुत बिरति बिवेक।"

इस प्रकार—

"राम भजत सोइ मुक्ति गुसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआई।

यही गोसाईं जी की भक्तिभावना का स्वरूप है।

मुक्ति का साधन ज्ञान भी है और भक्ति भी। भक्ति उसका सरल साधन है जिसके द्वारा मुक्ति "अनइच्छित आवइ बरिआई"। ज्ञानमार्ग बड़ा टेढ़ा और जन-साधारण के उपयुक्त नहीं है, चिंतन-शील दार्शनिक तपस्वी ज्ञानमार्ग पर चल कर ब्रह्म में अन्य सत्ता को लय कर देता है। पर—

"ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत, खगेस! होइ नहिं बारा॥"

इसी लिए गोस्वामी जी ने भक्ति के द्वारा अध्यात्म-साधना का उपदेश दिया है। ज्ञानपंथ अंकों में लिखी संख्या के समान है पर भक्तिमार्ग अक्षरों में लिखी संख्या है जिसमें कभी भूल होने की संभावना नहीं। तुलसीदास जी कहते हैं।

"राम भजन नीको मोहिं लागत राजडगरो सो।"

यह वह राजमार्ग है जिसमें न गड्ढे हैं और न कीचड़, भक्ति में भी माधुर्य सख्य, वात्सल्य आदि की अपेक्षा उन्हें दास्य भाव की भक्ति प्रिय है—

"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।"

भक्ति और ज्ञान मुक्ति के साधन हैं, इनमें कोई अंतर नहीं है।

ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भवसंभव खेदा॥

वास्तव में तो तुलसीदास दोनों को एक मानते हैं। भक्ति के लिए विरति और विवेक को आवश्यक बताया ही गया है। और ज्ञान का अनुगमन पहुँचे हुए भक्त कर सकते हैं। पहले तो भक्ति के द्वारा ही मन को एकाग्र करना पड़ता है। शंकराचार्य तक ने भक्ति करने का उपदेश दिया है, तुलसीदास की समन्वय भावना ने भक्ति और ज्ञान को एक कर दिया है। तुलसीदास जी का आवि-

भाव ही सामंजस्य स्थापन के लिए हुआ था। इन्होंने ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी पंथों के बीच एकता का स्थापन किया।

ज्ञान से भक्ति को श्रेष्ठ इस लिए भी कहा है कि भक्ति हृदय का भाव है। हृदय में राम का अनुराग जग जाने पर फिर और किसी राग के चढ़ने का भय नहीं है। ज्ञान बुद्धि की क्रिया का फल है और बुद्धि पर राग का—माया का प्रभाव पड़ सकता है। इसी बात को तुलसीदास जी ने रूपक बाँध कर कहा है।

"ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरि जाना॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि-वर्ग जानहिं सब कोऊ॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि, यह चरित अनूपा॥"

इस प्रकार भक्तिमार्ग में साधक को किसी बाधा का सामना नहीं करना पड़ता।

भक्ति के दो पक्ष होते हैं-साध्य और साधक। साधक साध्य के महत्त्व पर श्रद्धा करता हुआ अपनी मनोवृत्ति को स्नेहसिक्त कर साध्य पर अड़ा देता है, इसे भक्ति कहते हैं। साधक की पवित्रता और अनन्यता साधना के लिये अपेक्षित हैं, साध्य का-इष्टदेव का-जीवन जितना ही पवित्र और महत्त्वशाली होगा साधक में पवित्रता और अनन्यता की भावना उतने ही उत्कर्ष को पहुँची हुई मिलेगी। कहने का तात्पर्य यह कि भक्तिक्षेत्र में इष्टदेव की भावना अपना विशेष महत्त्व रखती है, तुलसीदास के राम, शक्ति-शील और सौंदर्य के समन्वय थे, संसार के किसी धर्म में इष्टदेव की ऐसी आदर्श भावना नहीं की गई।

सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण हैं जो इस पांचभौतिक सृष्टि में व्याप्त हैं। इनसे मुक्त संसार का कोई भी जीव नहीं है, देवता भी इनके प्रभाव से बच नहीं सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में तीनों गुण रहते हैं। अन्तर केवल इतना है कि कोई प्रधान होकर वर्तमान रहता है तथा कोई अप्रधान रहकर। देवताओं में ब्रह्मा रजोगुण के, विष्णु सत्त्वगुण के तथा शिव तमोगुण के प्रतीक हैं। ब्रह्म अपनी इन्हीं त्रिगुणमयी त्रिमूर्ति के द्वारा सृष्टि कार्य चलाता है, ब्रह्मा सृजन करते हैं, विष्णु पालन करते हैं और शिव संहार करते हैं इसी लिये वे तमोगुण के प्रतीक हैं। मनुष्यों में तपस्वी और संन्यासी सत्त्वगुण-प्रधान हैं, साधारण गृहस्थ रजोगुण प्रधान तथा

नीच पुरुष अथवा राक्षस तमोगुण प्रधान हुआ करते हैं। राक्षस-राज रावण में तमोगुण अपनी सीमा पर पहुँच गया था, उसमें सत्त्व का प्रायः अभाव ही था, रजोगुण की मात्रा भी कम हो चली थी। इतने से स्पष्ट हो गया है कि सारी सृष्टि त्रिगुणमयी है और सारे ही जीव अवसर पर सत्व, रज, तम की ओर आकृष्ट हुआ करते हैं। यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है; इन तीनों गुणों के उचित समन्वय से ही पूर्णता आती है। समन्वय के बिना संसार चल भी नहीं सकता, तुलसीदास जी की सामंजस्य भावना ने इन तीनों का मेल राम में करा दिया, राम का स्वरूप पूर्ण हो गया। जीव का आकर्षण त्रिगुण की ओर होता है अतः त्रिगुणात्मक इष्टदेव भक्ति को अधिक आकर्षित कर सकते हैं, इसी अभिप्राय से गोसाईं जी ने त्रिगुणात्मक स्वरूप की कल्पना की।

रज का प्रतीक सौन्दर्य, तम का प्रतीक शक्ति तथा सत्व का प्रतीक शील है। राम का सौन्दर्य अलौकिक था, नीले मेघ के समान श्यामवर्ण, दिनकर की भाँति तेज से देदीप्यमान पर चन्द्रमा की भाँति शीतल और सुखद मुखारविंद किस मनुष्य को प्रिय न लगेगा, उस असीम सौंदर्य पर कौन मुग्ध न हो रहेगा? बालछवि सब से अधिक आकर्षक हुआ करती है, एक पद में बालक राम का चित्र देखिये—

"आँगन फिरत घुटुरवनि धाए।
नील-जलद-तनु-श्याम राम-सिसु जननि निरखि मुख निकट बोलाए।
बंधुक-सुमन असन पद पंकज अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आए।
नूपुर जनु मुनिवर-कल-हंसनि रचे नीड़, दै बाँह बसाए।
कटि मेखल, वर हार, ग्रीवदर, रुचिर बाँह भूषन पहिराए।
उर श्रीवत्स मनोहर हरिनख हेममध्य मनिगन बहु लाए॥
सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका स्रवन कपोल मोहिं अति भाए।
भ्रू सुन्दर करुना रस-पूरन, लोचन मनहुँ जुगल जग जाए॥
भाल बिलास ललित लटकन वर, बालदसा के चिकुर सुहाए।
+ + + +
तुलसीदास रघुनाथ रूप-गुन तौ कहौं जो बिधि होहिं बनाए॥"

ऐसे सुन्दर बाल-रूप पर भी जिसकी मनोवृत्ति न टिकी उसके लिये क्या कहा जाय! राम के सौंदर्य को निरखने के लिये सुरपति

इन्द्र भी लालायित रहता है, धूलिधूसर बालक राम की क्रीड़ाएँ कैसी मनोहर हैं।

"बाल-भूषन-बसन, तन सुन्दर रुचिर रज भरनि।
परसपर खेलनि अजिर, उठि चलनि, गिरि गिर परनि।
झुकनि झाँकनि, छाँह सो किलकनि, नटनि, हठि लरनि।
तोतरी बोलनि, बिलोकनि, मोहनी मन हरनि॥"

भगवान राम के किशोर रूप की झाँकी भी देखिए—

"ऋषि सँग हरषि चले दोउ भाई।
पितु-पद बंदि सीस लियो आयसु सुनि सिष आसिष पाई।
नील, पीत, पाथोज बरनवपु, बय किशोर बनि आई।
सरधनु पानि, पीतपट कटितट, कसे निषंग बनाई॥
कलित कण्ठ मनिमाल, कलेवर, चंदन खौरि सुहाई।
सुन्दर बदन, सरोरुह लोचन, मुख छबि बरनि न जाई॥
पल्लव पंख सुमन सिर सोहत, क्यों कहौं वेष लुनाई।"

त्रिलोकी में कोई उनके समान सुन्दर नहीं है। राम लक्ष्मण की यह जोड़ी ऐसी प्रतीत होती है कि—

"मनु मूरति धरि उभय भाग भइ त्रिभुवन सुन्दरताई॥"

स्वभाव चपल किशोरावस्था की चंचलता किस साधक के मन की चंचलता को न हर लेगी? कौन पुलकित न हो उठेगा?

"पैठत सरनि, सिलनि चढ़ि चितवत खग-मृग-बन रुचिराई।
सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि पुनि लेत बुलाई॥"

जनकपुरी की ललनाएँ कितनी व्याकुल हैं। राम का अलौकिक सौन्दर्य उनकी आँखों में समा गया है—

"रहे इक टक नर-नारि जनकपुर, लागत पलक कलप बितए री।
प्रेम-बिबस माँगत महेस सों देखत ही रहिए नित ए री॥"

राम की सौन्दर्य-सुधा का पान करने से ही वे सन्तुष्ट नहीं यदि राम का दर्शन सदा न हो सके, तो वे नेत्रहीन रहना चाहती हैं—

"कै ए सदा बसहु इन्ह नयनन्हि, कै ए नयन जाहु जित ए री।"

उनके हृदय में राम के प्रति ममता का भाव जागृत हो जाता है। शंकर का कठोर धनु इन सुकुमारों के लिए बहुत कठोर है। वे अकुला उठती हैं—

"कोउ समुझाइ कहै किन भूपहि बड़े भाग आये इत ए री ।
कुलिस कठोर कहाँ संकर-धनु, मृदु मूरति किसोर कित ए री ॥"

ललनाएँ ही नहीं जनकपुर के बालक, वृद्ध, युवा, सभी अपनी सुध बुध खो बैठे हैं। प्रतीत होता है कि राजा जनक ही नहीं, उनकी सारी प्रजा विदेह है।

"राम लखन जब दृष्टि परे री ।
अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो विधि विविध बिदेह करे री ।"

राम का सौन्दर्य नेत्रों के लिये ही आकर्षक नहीं अपितु हृदय पर उसका प्रभाव पड़ता है। पुष्पवाटिका में राम-लक्ष्मण की जोड़ी को निरख कर प्रेम-विवश सीता की सखी को देखिये—

"तासु दशा देखी सखिन्ह पुलक गात जल नैन"

राम की छवि देख सीता के—

"थके नयन रघुपति छबि देखें । पलकन्हि हूँ परिहरीं निमेषें ॥"

राम गुरु की आज्ञा से शंकर का धनुष भंग करने के लिये उठकर खड़े हुए उस समय उनकी शोभा को देख मृगराज भी लज्जित होते थे—

"ठाढ़ भये उठि सहज सुभाएँ, ठवनि जुवा मृगराजु लजाएँ ।"

सीता के संयोग से राम की छवि और भी चमक उठी, प्रकृति के मिल जाने से पुरुष का स्वरूप और भी पूर्ण हो गया।

"दूलह राम, सीय दुलही री !
घन-दामिन-वर-बरन, हरन-मन सुन्दरता नखसिख निबही री ।"

इस जोड़ी को देख कौन धन्य न होगा ?

"जीवन-जनम-लाहु लोचन-फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही री ।"

राम के तापस वेष का ध्यान मुनियों के मन को निर्मल और शांत बना देता है। सौंदर्यप्रियता मनुष्य का स्वभाव है। तपस्वी भी इस असीम सौंदर्य से उदास नहीं हो सकते। राम का तापस रूप देखिए—

"नृपति-कुँवर मग जात ।
सुंदर बदन, सरोरुह लोचन मरकत-कनक बरन मृदुगात ॥
अंसनि चाप, तून कटि, मुनिपट, जटा मुकुट बिच पात,
फेरत पानि-सरोजनि सायक, चोरत चितहि सहज मुसुकात ॥"

वन मार्ग में भगवान राम की एक और मुद्रा देखिए। वन का

सेवक का अपना पृथक् व्यक्तित्व नहीं रहता प्रभु की इच्छा ही उसकी इच्छा है। इस प्रकार उसका मन सीमित क्षेत्र में बँधा रहता है, वह अपनी चंचलता के कारण साधक का अहित नहीं कर पाता, वह प्रभु के महत्त्व को भूलता नहीं है।

कृष्णभक्ति-सम्प्रदाय के कवियों ने यद्यपि तल्लीनता का अनुभव किया है परन्तु उनका व्यक्तित्व स्पष्ट पृथक् बना रहता है। सूरदास सख्य भाव के उपासक हैं। उनकी स्वरमाधुरी ने हिन्दी-साहित्य को सरस बना दिया है, ये कृष्ण की बाललीलाओं और गोपियों की अनन्य प्रेम-भावना पर मुग्ध थे। महाभारत के कृष्ण इनकी रचनाओं में बहुत कम स्थान पा सके हैं। इन्होंने कृष्ण के लोकरंजक स्वरूप को ही अपनाया है। भगवान् का लोकधर्मरक्षक स्वरूप इनकी उपासना के लिये उतना उपयोगी न था। इनकी रचनाओं में भगवान् की जीवनव्यापिनी कला के दर्शन नहीं होते।

संपूर्ण जीवन को अनुप्राणित करने वाली भगवान् की पूर्ण-कला के दर्शन हमें तुलसीदास की रचनाओं में मिलते हैं। गोसाईं जी भगवान् के लोक-धर्म-रक्षक स्वरूप को लेकर आगे बढ़े हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि कबीर हिंदू और मुसलमान धर्म के बीच सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा में लगे रहे। उस समय हिंदू जाति निराश थी, उसने निराकार की साधना में मन लगाया, पर इससे उसकी निराशा कम न हुई, निर्गुण सत्ता से उसे अपना कोई काम साधता न दिखाई दिया। व्यक्त सत्ता के साथ तल्लीनता का अनुभव करना भी कठिन था। सूफ़ी कवि भी हिंदू जाति को आशा का संदेश न दे सके, हिन्दू और मुसलमान हृदयों के बीच पड़ी हुई विषमता को उन्होंने दूर किया। अपनी रचनाओं में उन्होंने दिखा दिया कि मानव मात्र के हृदय में भावना की एक ही धारा बहा करती है। सूरदास ने भगवान के मधुरतम रूप को सामने रखकर हिंदू जाति की नैराश्यजनित खिन्नता तो हटायी पर निराश हृदयों में आशा का संचार वे न कर सके। गोसाईं जी ने अपने मानस की रचना करके इष्टदेव का जो आदर्श सामने रखा उसे देखकर हिंदू मन आशा से नाच उठा। उन्होंने राम के जिस स्वरूप का प्रतिपादन किया है वह पूर्ण है; उनकी भक्ति-पद्धति निर्दोष और सरल है। गोसाईं जी की भक्ति भावना भारतीय भक्तिमार्ग का स्वाभाविक विकास है, विदेशी प्रभाव उसे छू तक नहीं गया।

दार्शनिकता भारतवर्ष की अपनी चीज़ है। यहाँ ब्रह्म की सत्ता पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। किसी ने ब्रह्म को सगुण प्रतिपादित किया है, तो किसी ने निर्गुण। संसार का नियमन करने वाली कोई परमात्म-सत्ता है जो ब्रह्म नाम से अभिहित होती है, इतना तो प्रायः सभी मानते हैं। भक्तिसंप्रदाय वाले ब्रह्म और जीव की एकता में विश्वास नहीं करते, वे जीव को ब्रह्म का अंश, नित्य और पृथक् सत्ता वाला मानते हैं—

'ईश्वर अंस जीव अविनासी'

जीव और ब्रह्म को एक मान लेने पर भक्ति के विकास का पूरा अवसर नहीं रहता। पृथक् रहकर भक्त ब्रह्म में मिल जाने की-उसके सामीप्य लाभ की-इच्छा करता है और प्रयत्नशील होता है। अपनी भक्तिभावना की तुष्टि के लिए तुलसी ब्रह्म की सगुण सत्ता को मानते हैं, यद्यपि वे उसकी निराकारता पर अविश्वास नहीं करते। उनका तो कहना है—'अगुन सगुन दोउ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।' ब्रह्म की त्रिविध शक्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। विष्णु के अवतार राम हैं, वे मनुष्य हैं, ईश्वर हैं, ब्रह्म के प्रतीक हैं। संसार का भार हटाने के लिए उन्हें बार बार अवतार लेना पड़ता है। विष्णु के चौबीस अवतार हैं। कबीर की तरह तुलसीदास के राम निराकार नहीं हैं। उनके राम सौंदर्य, शक्ति और शील के समन्वय हैं। तुलसीदास को भगवान् के सब अवतारों में राम ही अधिक प्रिय हैं। राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं। राम का नाम राम से भी बड़ा है—

"कहउँ नाम बड़ रामतें, निज विचार अनुसार।"

तुलसीदास जी ने राम का जो स्वरूप चित्रित किया है, उसका ध्यान यदि भक्त न कर सके तो राम का नामस्मरण ही उसे पार उतार देता है। राम का नाम भक्ति का निर्मल प्रकाश देता है और भक्ति के उदय के साथ वह राम के शक्ति, शील और सौंदर्यमयी मूर्ति का दर्शन कर आनंद से पुलकित होने लगता है। राम के नाम स्मरण से जहाँ अन्तःकरण की शुद्धि और उसमें भक्ति का निर्मल प्रकाश उत्पन्न होता है वहाँ उसका आचरण भी पवित्र हो जाता है। उसके बाह्य जीवन पर उसके रहन-सहन पर भी प्रभाव पड़ता है। वह शुद्ध आचारवाला बन सकता है। पीछे कहा जा चुका है

कि भक्ति का नित्य लक्षण सदाचार की भावना का सृजन है। राम नाम में ऐसी ही अपूर्व शक्ति है—

"राम-नाम मणि-दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरहु, जौ चाहसि उजियार॥"

गोसाईं जी ने अपनी भक्ति भावना के लिए जैसे इष्टदेव की तथ्य भावना की है उसका उल्लेख संक्षेप में हो चुका है, उनके राम विष्णु के अवतार, ब्रह्म के प्रतीक, शक्ति, शील और सौंदर्य के समन्वय हैं।

सच्ची भक्ति के लिए साधक को सदाचारी और अनन्य भाव से अनुराग रखने वाला होना चाहिए। अनुराग की साधना रागात्मिका वृत्ति की उत्तेजना होने पर ही संभव है। हृदय को आकर्षित करने के लिए ही भगवान के अनंत सौंदर्य की भावना की गई है, पर उससे भी पहले भगवान के नामस्मरण से मन को निर्मल तथा राम में अनुरक्त बनाने की व्यवस्था दी गई है, राम के नाम से "भीतर बाहिरहु" निर्मलता आती है। दूसरा साधन है राम-कथा का श्रवण, राम की अनंत लीलाओं का ध्यान करते करते साधक का मन तन्मय होने लगता है और उसमें भक्तिभावना का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार जब साधक का मन भगवान के ध्यान करने का अभ्यासी हो जाता है, उसे राम का अनंत सौंदर्य मुग्ध कर लेता है। वह आँख से राम के सौंदर्य का प्रत्यक्षी-करण चाहता है, कानों से गुणावली के श्रवण को ही लाभ समझता है, उसका हृदय उन्हीं में रम जाना चाहता है, तात्पर्य यह कि उसकी सारी इंद्रियाँ सांसारिक विषयों से मुड़कर ईश्वर की ओर उन्मुख हो जाती हैं। भगवान के शक्ति-स्वरूप का स्मरण कर उसकी भक्तिभावना में दृढ़ता आती है, अनंत शक्ति के स्वरूप राम हैं 'लव निमेष परमान जुग काल जासु कोदण्ड'। उसे यह भरोसा हो जाता है कि संसार का कल्याण करने में ये समर्थ हैं। राम के शील स्वरूप पर हृदय विमुग्ध हो रहता है और राम के शील-स्वभाव का चिंतन करते हुए उसका मन निर्मल हो जाता है। मन की निर्मलता भक्ति के लिए आवश्यक है—

"सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूती।
तुलसी सूधी सकल विधि रघुवर प्रेम प्रसूति॥"

इस प्रकार भक्त भगवान के प्रेम को प्राप्त करता है। तुलसी-

दास मुक्ति की कामना नहीं करते वे चाहते हैं राम की सेवा करना जो मुक्ति मिलने के बाद नहीं हो सकती। उन्होंने भक्ति के आनंद के लिए भक्ति-पथ का अवलम्बन किया था, पर भक्ति से वैराग्य और ज्ञान की उत्पत्ति होती है। वैराग्य और विवेक के बिना भक्ति की सत्ता ही गोसाईं जी स्वीकार नहीं करते।

"श्रुति संमत हरि-भक्ति पथ, संजुत विरति विवेक।"

इस प्रकार—

"राम भजत सोइ मुक्ति गुसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआई।

यही गोसाईं जी की भक्तिभावना का स्वरूप है।

मुक्ति का साधन ज्ञान भी है और भक्ति भी। भक्ति उसका सरल साधन है जिसके द्वारा मुक्ति "अनइच्छित आवइ बरिआई"। ज्ञानमार्ग बड़ा टेढ़ा और जन-साधारण के उपयुक्त नहीं है, चिंतनशील दार्शनिक तपस्वी ज्ञानमार्ग पर चल कर ब्रह्म में अन्य सत्ता को लय कर देता है। पर—

"ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत, खगेस! होइ नहिं बारा॥"

इसी लिए गोस्वामी जी ने भक्ति के द्वारा अध्यात्म-साधना का उपदेश दिया है। ज्ञानपंथ अंकों में लिखी संख्या के समान है पर भक्तिमार्ग अक्षरों में लिखी संख्या है जिसमें कभी भूल होने की संभावना नहीं। तुलसीदास जी कहते हैं।

"राम भजन नीको मोहिं लागत राजडगरो सो।"

यह वह राजमार्ग है जिसमें न गड्ढे हैं और न कीचड़, भक्ति में भी माधुर्य सख्य, वात्सल्य आदि की अपेक्षा उन्हें दास्य भाव की भक्ति प्रिय है—

"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।"

भक्ति और ज्ञान मुक्ति के साधन हैं, इनमें कोई अंतर नहीं है।

ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भवसंभव खेदा॥

वास्तव में तो तुलसीदास दोनों को एक मानते हैं। भक्ति के लिए विरति और विवेक को आवश्यक बताया ही गया है। और ज्ञान का अनुगमन पहुँचे हुए भक्त कर सकते हैं। पहले तो भक्ति के द्वारा ही मन को एकाग्र करना पड़ता है। शंकराचार्य तक ने भक्ति करने का उपदेश दिया है, तुलसीदास की समन्वय भावना ने भक्ति और ज्ञान को एक कर दिया है। तुलसीदास जी का आवि-

भाव ही सामंजस्य स्थापन के लिए हुआ था। इन्होंने ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी पंथों के बीच एकता का स्थापन किया।

ज्ञान से भक्ति को श्रेष्ठ इस लिए भी कहा है कि भक्ति हृदय का भाव है। हृदय में राम का अनुराग जग जाने पर फिर और किसी राग के चढ़ने का भय नहीं है। ज्ञान बुद्धि की क्रिया का फल है और बुद्धि पर राग का—माया का प्रभाव पड़ सकता है। इसी बात को तुलसीदास जी ने रूपक बाँध कर कहा है।

"ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरि जाना॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि वर्ग जानहिं सब कोऊ॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि, यह चरित अनूपा॥"

इस प्रकार भक्तिमार्ग में साधक को किसी बाधा का सामना नहीं करना पड़ता।

भक्ति के दो पक्ष होते हैं-साध्य और साधक। साधक साध्य के महत्त्व पर श्रद्धा करता हुआ अपनी मनोवृत्ति को स्नेहसिक्त कर साध्य पर अड़ा देता है, इसे भक्ति कहते हैं। साधक की पवित्रता और अनन्यता साधना के लिये अपेक्षित हैं, साध्य का-इष्टदेव का-जीवन जितना ही पवित्र और महत्त्वशाली होगा साधक में पवित्रता और अनन्यता की भावना उतने ही उत्कर्ष को पहुँची हुई मिलेगी। कहने का तात्पर्य यह कि भक्तिक्षेत्र में इष्टदेव की भावना अपना विशेष महत्त्व रखती है, तुलसीदास के राम, शक्ति-शील और सौंदर्य के समन्वय थे, संसार के किसी धर्म में इष्टदेव की ऐसी आदर्श भावना नहीं की गई।

सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण हैं जो इस पांचभौतिक सृष्टि में व्याप्त हैं। इनसे मुक्त संसार का कोई भी जीव नहीं है, देवता भी इनके प्रभाव से बच नहीं सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में तीनों गुण रहते हैं। अन्तर केवल इतना है कि कोई प्रधान होकर वर्तमान रहता है तथा कोई अप्रधान रहकर। देवताओं में ब्रह्मा रजोगुण के, विष्णु सत्त्वगुण के तथा शिव तमोगुण के प्रतीक हैं। ब्रह्म अपनी इन्हीं त्रिगुणमयी त्रिमूर्ति के द्वारा सृष्टि कार्य चलाता है, ब्रह्मा सृजन करते हैं, विष्णु पालन करते हैं और शिव संहार करते हैं इसी लिये वे तमोगुण के प्रतीक हैं। मनुष्यों में तपस्वी और संन्यासी सत्त्वगुण-प्रधान हैं, साधारण गृहस्थ रजोगुण प्रधान तथा

नीच पुरुष अथवा राक्षस तमोगुण प्रधान हुआ करते हैं। राक्षस-राज रावण में तमोगुण अपनी सीमा पर पहुँच गया था, उसमें सत्व का प्रायः अभाव ही था, रजोगुण की मात्रा भी कम हो चली थी। इतने से स्पष्ट हो गया है कि सारी सृष्टि त्रिगुणमयी है और सारे ही जीव अवसर पर सत्व, रज, तम की ओर आकृष्ट हुआ करते हैं। यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है; इन तीनों गुणों के उचित समन्वय से ही पूर्णता आती है। समन्वय के बिना संसार चल भी नहीं सकता, तुलसीदास जी की सामंजस्य भावना ने इन तीनों का मेल राम में करा दिया, राम का स्वरूप पूर्ण हो गया। जीव का आकर्षण त्रिगुण की ओर होता है अतः त्रिगुणात्मक इष्टदेव भक्ति को अधिक आकर्षित कर सकते हैं, इसी अभिप्राय से गोसाईं जी ने त्रिगुणात्मक स्वरूप की कल्पना की।

रज का प्रतीक सौन्दर्य, तम का प्रतीक शक्ति तथा सत्व का प्रतीक शील है। राम का सौन्दर्य अलौकिक था, नीले मेघ के समान श्यामवर्ण, दिनकर की भाँति तेज से देदीप्यमान पर चन्द्रमा की भाँति शीतल और सुखद मुखारविंद किस मनुष्य को प्रिय न लगेगा, उस असीम सौंदर्य पर कौन मुग्ध न हो रहेगा? बालछवि सब से अधिक आकर्षक हुआ करती है, एक पद में बालक राम का चित्र देखिये—

"आँगन फिरत घुटुरवनि धाए।
नील-जलद-तनु-श्याम राम-सिसु जननि निरखि मुख निकट बोलाए।
बंधुक-सुमन असन पद पंकज अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आए।
नूपुर जनु मुनिवर-कल-हंसनि रचे नीड़, दै बाँह बसाए।
कटि मेखल, वर हार, ग्रीवदर, रुचिर बाँह भूषन पहिराए।
उर श्रीवत्स मनोहर हरिनख हेममध्य मनिगन बहु लाए॥
सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका स्रवन कपोल मोहिं अति भाए।
भ्रू सुन्दर करुना रस-पूरन, लोचन मनहुँ जुगल जग जाए॥
भाल बिलास ललित लटकन वर, बालदसा के चिकुर सुहाए।
+ + + +
तुलसीदास रघुनाथ रूप-गुन तौ कहौं जो विधि होहिं बनाए॥"

ऐसे सुन्दर बाल रूप पर भी जिसकी मनोवृत्ति न टिकी उसके लिये क्या कहा जाय! राम के सौंदर्य को निरखने के लिये सुरपति

इन्द्र भी लालायित रहता है, धूलिधूसर बालक राम की क्रीड़ाएँ कैसी मनोहर हैं।

"बाल-भूषन-बसन, तन सुन्दर रुचिर रज भरनि।
परसपर खेलनि अजिर, उठि चलनि, गिरि गिर परनि।
झुकनि झाँकनि, छाँह सो किलकनि, नटनि, हठि लरनि।
तोतरी बोलनि, बिलोकनि, मोहनी मन हरनि॥"

भगवान राम के किशोर रूप की झाँकी भी देखिए—

"ऋषि सँग हरषि चले दोउ भाई।
पितु-पद बंदि सीस लियो आयसु सुनि सिष आसिष पाई।
नील, पीत, पाथोज बरनवपु, बय किशोर बनि आई।
सरधनु पानि, पीतपट कटितट, कसे निषंग बनाई॥
कलित कराठ मनिमाल, कलेवर, चंदन खौरि सुहाई।
सुन्दर बदन, सरोरुह लोचन, मुख छबि बरनि न जाई॥
पल्लव पंख सुमन सिर सोहत, क्यों कहौं वेष लुनाई।"

त्रिलोकी में कोई उनके समान सुन्दर नहीं है। राम लक्ष्मण की यह जोड़ी ऐसी प्रतीत होती है कि—

"मनु मूरति धरि उभय भाग भइ त्रिभुवन सुन्दरताई॥"

स्वभाव चपल किशोरावस्था की चंचलता किस साधक के मन की चंचलता को न हर लेगी? कौन पुलकित न हो उठेगा?

"पैठत सरनि, सिलनि चढ़ि चितवत खग-मृग-बन रुचिराई।
सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि पुनि लेत बुलाई॥"

जनकपुरी की ललनाएँ कितनी व्याकुल हैं। राम का अलौकिक सौन्दर्य उनकी आँखों में समा गया है—

"रहे इक टक नर-नारि जनकपुर, लागत पलक कलप बितए री।
प्रेम-बिबस माँगत महेस सों देखत ही रहिए नित ए री॥"

राम की सौन्दर्य-सुधा का पान करने से ही वे सन्तुष्ट नहीं यदि राम का दर्शन सदा न हो सके, तो वे नेत्रहीन रहना चाहती हैं—

"कै ए सदा बसहु इन्ह नयनन्हि, कै ए नयन जाहु जित ए री।"

उनके हृदय में राम के प्रति ममता का भाव जागृत हो जाता है। शंकर का कठोर धनु इन सुकुमारों के लिए बहुत कठोर है। वे अकुला उठती हैं—

"कोउ समुझाइ कहै किन भूपहि बड़े भाग आये इत ए री।
कुलिस कठोर कहाँ संकर-धनु, मृदु मूरति किसोर कित ए री॥"

ललनाएँ ही नहीं जनकपुर के बालक, वृद्ध, युवा, सभी अपनी सुध बुध खो बैठे हैं। प्रतीत होता है कि राजा जनक ही नहीं, उनकी सारी प्रजा विदेह है।

"राम लखन जब दृष्टि परे री।
अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो विधि विविध बिदेह करे री।"

राम का सौन्दर्य नेत्रों के लिये ही आकर्षक नहीं अपितु हृदय पर उसका प्रभाव पड़ता है। पुष्पवाटिका में राम-लक्ष्मण की जोड़ी को निरख कर प्रेम-विवश सीता की सखी को देखिये—

"तासु दशा देखी सखिन्ह पुलक गात जल नैन"

राम की छवि देख सीता के—

"थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हि हूँ परिहरीं निमेषें॥"

राम गुरु की आज्ञा से शंकर का धनुष भंग करने के लिये उठकर खड़े हुए उस समय उनकी शोभा को देख मृगराज भी लज्जित होते थे—

"ठाढ़ भये उठि सहज सुभाएँ, ठवनि जुवा मृगराजु लजाएँ।"

सीता के संयोग से राम की छवि और भी चमक उठी, प्रकृति के मिल जाने से पुरुष का स्वरूप और भी पूर्ण हो गया।

"दूलह राम, सीय दुलही री।
घन-दामिन-वर-बरन, हरन-मन सुन्दरता नखसिख निबही री।"

इस जोड़ी को देख कौन धन्य न होगा?

"जीवन-जनम-लाहु लोचन-फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही री।"

राम के तापस वेष का ध्यान मुनियों के मन को निर्मल और शांत बना देता है। सौंदर्यप्रियता मनुष्य का स्वभाव है। तपस्वी भी इस असीम सौंदर्य से उदास नहीं हो सकते। राम का तापस रूप देखिए—

"नृपति-कुँवर मग जात।
सुंदर बदन, सरोरुह लोचन मरकत-कनक बरन मृदुगात॥
अंसनि चाप, तून कटि, मुनिपट, जटा मुकुट विच पात,
फेरत पानि-सरोजनि सायक, चोरत चितहि सहज मुसुकात॥"

वन मार्ग में भगवान राम की एक और मुद्रा देखिए। वन का

वह कण्टकाकीर्ण पथ राजवधू सीता के योग्य न था। थोड़ी दूर चलने पर ही वे व्याकुल हो पूछने लगीं।

"कहौ सो विपिन है धौं केतिक दूरि ॥"

प्रियतमा के इस प्रश्न ने राम की करुणा को तरल बना दिया।

"तुलसिदास प्रभु प्रिया बचन सुनि नीरज नयन नीर आए पूरि ॥"

राम आगे चले जाते हैं, पीछे सीता हैं उसके पीछे लक्ष्मण चले जा रहे हैं। राम बार-बार मुड़कर सीता की गति को देखने लगते हैं—कैसी सुन्दर मुद्रा है!

"फिरि फिरि राम सीय तनु हेरत।"

लक्ष्मण जल लेने गये हैं, लौटने में देर हो रही है, भाई और भौजाई चिंतित हो उठे हैं। राम टीले पर चढ़ कर लक्ष्मण को देख रहे हैं। कैसा सुन्दर रूप है! किस सहृदय का मन इस अनन्त सौंदर्यवान की इस व्याकुलता पर न्यौछावर न होगा—

"तृषित जानि जल लेन लषन गए, भुज उठाइ ऊँचे चढ़ि टेरत ॥"

अपने इष्टदेव में सौंदर्य की परम सृष्टि तुलसीदास जी ने इस लिए की है कि भक्त का हृदय उधर एकाग्र हो, उसकी इच्छाएँ केन्द्रित हो जाएँ। देखिए ग्रामवधुओं के ऊपर राम की सुन्दरता ने जादू कर दिया है। वे घर-गृहस्थ की माया छोड़ बैठी हैं।

"धरि धीर कहैं-चलु देखिय जाइ जहाँ सजनी रजनी रहि हैं।"

संसार उन्हें क्या कहेगा इसकी चिंता उन्हें नहीं है।

"कहि है जग पोच न सोच कछू, फल लोचन आपन तो लहिहैं।
सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस में कछु पै कहि हैं ॥"

राम का तापस वेष क्या कुछ कम मनोहर है?

"कर बान सरासन, सीस जटा, सरसीरुह लोचन सोन सुहाए।
जिन देखे, सखी! सत भायहुँतें, तुलसी तिन तौं मन फेरि न पाए ॥"

ग्रामबालाएँ अपना मन क्योंकर फेर पातीं, बहुत दिन बाद तक भी राम उनके मन मंदिर से दूर न हुए।

"पुनि न फिरे दोउ बीर बटाऊ
स्यामल गौर सहज सुंदर, सखि! बारक बहुरि बिलोकिबे काऊ ॥"

राम की चर्चा बराबर चलती रही—

"बहुत दिन बीते सुधि कछु न लही।"

गोसाईं जी ने राम के मधुर स्वरूप का वर्णन ही अधिक

किया है पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि उनकी शक्ति को प्रदर्शित करने वाले वीर कार्यों का वर्णन करते हुए उनकी लेखनी कल्पना से तरंगित नहीं हुई है। भगवान के अहेरी स्वरूप की झाँकी भी देखते चलें—

"सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे॥"

तुलसीदास जी को भगवान की यह झाँकी बहुत प्रिय थी, उनका अंग अंग शोभायमान हो रहा था।

"पीत बसन कटि, चारु चारि सर, चलत कोटि नट सो तृन तोरे।
स्यामल तनु स्रम-कन राजत ज्यों नवघन सुधा सरोवर खोरे॥"

जनकसुता का आग्रह था। राम धनुष बाण लेकर स्वर्ण-मृग के पीछे दौड़ पड़े। तुलसीदास को राम की यह मुद्रा बहुत मनोहर लगती है—

"सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे।
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसि उर आछे॥"

राम का वीर कर्म से भरा सौन्दर्य तो लङ्का के युद्ध में दिखाई पड़ता है। शक्ति के मेल से ही उनका सौन्दर्य और शील चमक उठा है। राम रावण को मारते नहीं हैं, उसके अत्याचार से सेना में हाहाकार मच गया है। देवता भयत्रस्त हो पुकार उठते हैं—

"देव वचन सुनि प्रभु मुसकाना, उठि रघुबीर सुधारे बाना॥"

सैनिक राम की शोभा निरखिये—

"सारंग कर सुन्दर निषंग सिलीमुखाकर कटि कस्यो।
भुजदंड पीन मनोहरायत उर धरा सुर पद लस्यो॥
कह दास तुलसी जबहिं प्रभु सर चाप कर फेरन लगे।
ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अति महि सिंधु भूधर डगमगे॥"

राम की अतुल शक्ति से ही सारा जगत रक्षित है राम के शरों ने बड़ा गज़ब ढाया—

"राम सरासन तें चले तीर, रहे न सरीर, हड़ावरि फूटी।
रावन बीर न पीर गनी लखि लै कर खप्पर जोगिनि जूटी॥"

उस भयंकर प्रलयकारी महायुद्ध के बाद राम के वीर वेश के वर्णन में कैसी सुन्दर उत्प्रेक्षा की गई है—

"सोनित छींट-छटानि जटे तुलसी प्रभु सोहैं, महाछबि छूटी।
मानौ मरकत-सैल बिसाल में फैल चली बर बीर बहूटी॥"

'सैल' से उनके महाकाय सुदृढ़ शरीर की ओर कैसा सुन्दर संकेत है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी रचनाओं में प्रायः सभी रसों का वर्णन किया है। इसी लिए राम के वीर स्वरूप का वर्णन भी उन्होंने पूरी भावुकता के साथ किया है। पर इसमें संदेह नहीं कि राम का मधुर रूप ही अधिकतर तुलसीदास की कोमल कल्पनाओं को छू सका था, पहले अध्याय में बताया गया है कि वह समय वीरगाथाओं का न था, जनता और कवियों की प्रवृत्ति भी कोमलता की ओर झुक चुकी थी। यद्यपि रामायण वीरकाव्य ही है और तुलसीदास ने लङ्का-दहन तथा युद्ध का चित्रण बड़ी ओजस्विता के साथ किया है पर वाल्मीकि के राम में जितनी कठोर दृढ़ता और क्षात्रतेज था तुलसीदास के राम में वह बात नहीं है। तुलसीदास के राम कर्मशील, शांत, गंभीर और धर्मरक्षक हैं। तुलसीदास को तो भगवान के भक्त-वत्सल और शील स्वरूप का ही दर्शन रुचता है। वे तो राम की करुण मूर्ति पर न्यौछावर हैं—लक्ष्मण को शक्ति लगी है—

"राम लषन उर लाय लये हैं।
भरे नीर राजीव नयन सब अँग परिताप तये हैं॥"

राम की इस सरल करुणा को देखकर भक्त का हृदय भी सरलता की ओर झुकता है इसी लिए तुलसीदास ने अपने इष्टदेव में शील की सुन्दर योजना की है। राम के शील पर नागरिक ही नहीं असभ्य समाज भी विमुग्ध है। देखिए—

किस सरलता से एक भिल्लबाला अपनी सखियों से राम का परिचय देती है। उसके प्रियतम ने उसे समाचार दिया है कि राम लक्ष्मण और सीता चित्रकूट में आ बसे हैं। राम के शील सौंदर्य को देख किरात-पत्नियों में मनुष्यता के, श्रद्धातिरेक के भाव जागृत हो उठे हैं। राम के दर्शन का प्रभाव कितना पवित्र है यह हम देख चुके हैं।

'भए सब साधु किरात किरातिनि, राम दरस मिटि गई कलुषाई॥'

भोली भाली भीलबाला को अपने नाह की बात पर कितना गर्व है—

"ये उपदी कोउ कुँवर अहेरी।
स्याम गौर धनुबान-तून धर चित्रकूट अब आइ रहे री॥

इन्हें बहुत आदरत महामुनि समाचार मेरे नाह कहे री।
बनिता बंधु समेत बसे बन, पितु हित कठिन कलेस सहे री ॥"

पिता के हित के लिये, उनकी प्रतिज्ञा के पालन के लिये राम ने अपने सुख को तिलांजलि दे दी और बन में भटकते फिर रहे हैं। शील के इस आदर्श ने उन जंगली स्त्रियों में क्या प्रभाव उत्पन्न किया यह समाज की पुरानी मर्यादाओं को भंग करने वाले जरा देखें—

"वचन परसपर कहति किरातिनि पुलक गात, जल नयन बहेरी,
तुलसी प्रभुहि विलोकति इकटक लोचन जनु बिनु पलक लहेरी।"

शील पर मुग्ध होता हुआ भक्त स्वयं शीलवान बनने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार इष्टदेव में शील की प्रतिष्ठा हो जाने से भक्त में स्वयं सदाचार की भावना आ जाती है। भक्त की मनोवृत्ति उच्च आदर्श की ओर लग जाती है। चंचल मन को बाँधकर रखना असंभव है। उसे सत की ओर लगा देना ही सरल उपाय है, सांसारिक विषयों से उसका मन खिंच जाता है। स्वयं ही वैराग्य और विवेक का उदय हो जाता है। इस प्रकार शील की साधना से भक्ति का स्वरूप पूर्ण हो जाता है। भक्त के लिए भगवान के शील स्वरूप का ध्यान आवश्यक है।

"सुनि सीता पति सील सुभाऊ
मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाऊ।"

शील का ध्यान करने से भक्त का हृदय तन्मय होने लगता है। भक्त राम के निकट पहुँचता जाता है। सदाचार और वैराग्य राम के सान्निध्य प्राप्त कराने में सहायक हैं।

"तुम अपनायो, तव जानिहौं जब मन फिरि परि है,
सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की, नृप ज्यों डर डरि है,
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरि है,
हानि लाभ दुख सुख सबै सम चित हित अनहित
कलि कुचाल परिहरि है ॥"

जब भक्त का हृदय निर्मल हो जाता है और भगवान् के शील-सौजन्य पर उसकी मनोवृत्ति रमने लगती है भगवान् की प्राप्ति सरल हो जाती है।

"कैतोहिं लागहिं राम प्रिय, कै तु राम प्रिय होहि।
दुई महँ रुचै जो सुगम सोइ कीबे तुलसी तोहि ॥"

इस प्रकार गोस्वामी जी ने राम के स्वरूप में सौंदर्य, शक्ति और शील का समन्वय करके तथा भक्त के लिए सदाचार, विवेक और वैराग्य को आवश्यक ठहरा कर अपनी भक्ति भावना की व्याख्या की है—उसका स्वरूप स्पष्ट किया है।

सप्तम अध्याय

केशवदास

हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् और आचार्य कवि केशवदास जी जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम काशीनाथ मिश्र और पितामह का नाम कृष्णदत्त मिश्र था। दोनों ही प्रसिद्ध विद्वान् थे। अस्तु केशवदास जी का जन्म विद्वानों के कुल में हुआ था और उन्होंने स्वयं भी अपनी विद्वत्ता के द्वारा अपने कुल का आदर बढ़ाया। इनके पूर्वज ब्रजभूमि के डीगकुम्हेर के रहने वाले थे। महाराज मधुकरशाह के समय में इनके पितामह कृष्णदत्त मिश्र ओड़छा चले गये और वहीं बस गये। इनके पिता काशीनाथ मिश्र ज्योतिष के प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनकी पुस्तक 'शीघ्रबोध' बहुत प्रसिद्ध है। उन्हें संतमत और वैराग्य संबन्धी विषयों का भी बहुत अच्छा ज्ञान था। काशीनाथ मिश्र के तीन पुत्र हुए—बलभद्र, केशवदास और कल्याणदास; ये तीनों ही कवि थे परन्तु केशवदास का स्थान सब से ऊँचा है। बलभद्र की रचना 'नखसिख' है। कल्याणदास का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, स्फुट रचनाएँ मिलती हैं।

केशवदास जी का जन्म संवत् १६१२ में ओछड़े में हुआ। थोड़े ही समय में इन्होंने राजदरबार में अपना विशेष स्थान बना लिया। महाराज मधुकरशाह केशवदास जी के पिता काशीनाथ का बड़ा सम्मान करते थे। मधुकरशाह की मृत्यु के बाद रामशाह राज्य के अधिकारी हुए। इन्होंने सारा राज्यभार अपने छोटे भाई इन्द्रजीतसिंह के ऊपर डाल दिया। केशव इन्हीं इन्द्रजीतसिंह के आश्रित थे।

इन्द्रजीतसिंह बड़े ही गुणग्राही थे। इन्होंने केशव को अपना राजकवि ही नहीं बनाया अपितु उनको अपना गुरु और राजमंत्री

भी समझा। समय आने पर केशवदास ने सदैव अपनी बुद्धि और प्रतिभा का परिचय दिया।

सम्राट् अकबर अबुलफज़ल को बहुत मानते थे। सलीम को अबुलफज़ल से चिढ़ थी। इन्द्रजीतसिंह के भाई वीरसिंह बड़े वीर और पराक्रमी थे, साथ ही शाहज़ादा सलीम के घनिष्ठ मित्र। अपने मित्र के कहने पर उन्होंने अबुलफज़ल को मार डाला। इस घटना से क्रुद्ध होकर अकबर ने इन्द्रजीतसिंह पर एक करोड़ रुपया जुर्माना कर दिया। केशव स्वयं दिल्ली गये। बीरबल अकबर के मंत्री तो थे ही, साथ ही उनका अकबर पर वैयक्तिक प्रभाव भी था। बीरबल कवि भी थे और केशव का आदर बहुत अधिक करते थे। केशव के प्रयत्न के परिणामस्वरूप इन्द्रजीतसिंह को इस जुर्माना से मुक्त कर दिया गया।

इंद्रजीतसिंह के समय में केशव का जैसा सम्मान हुआ वैसा सम्मान शायद ही किसी अन्य कवि का किसी राजा के यहाँ हुआ हो। उन्हें बाइस गाँव जागीर में मिले थे जिनमें से एक गाँव अब भी उनके वंशधरों के पास चला आता है। केशवदास जी का अपना जीवन राजाओं के समान था वे स्वयं कहते हैं—'भूतल को इंद्र इंद्रजीत राजै जुग-जुग केशोदास जाके राज राजसो करत है।" इंद्रजीत के कारण ही महाराज रामशाह ही नहीं, सारा ओड़छा दरबार उनका बहुत अधिक आदर करता था।

बीरबल ने इनका बहुत बड़ा सम्मान किया था। एक बार जब केशवदास उनसे मिलने गये तब बीरबल ने अजीर्ण के कारण मिलने में असमर्थता प्रकट की, इस पर चटपट उन्होंने एक दोहा लिखकर भेज दिया जिसे पढ़कर बीरबल बाहर आ गये। केशवदास ने उनके सामने एक कवित्त पढ़ा और प्रसन्न होकर बीरबल ने छः लाख रुपये पुरस्कारस्वरूप प्रदान किये।

अपने वैभव से केशवदास संतुष्ट रहा करते थे। उन्हें धन का लालच नहीं था। माँगना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उन्हें जो कुछ मिला सम्मान के साथ मिला। एक बार इंद्रजीतसिंह तीर्थ-यात्रा करने गये, केशवदास उनके साथ थे। प्रयाग में इन्द्रजीतसिंह ने कुछ माँगने के लिये उनसे आग्रह किया। उस पर उन्होंने जो उत्तर दिया वह इस दोहे में देखिये—

इन्द्रजीत तासों कह्यो माँगन मध्य प्रयाग।
माँग्यो सब दिन एक रस, कीजै कृपा सभाग॥

इसी प्रकार बीरबल ने भी उनसे कुछ मांगने की प्रार्थना की थी, उस पर उन्होंने कहा था—

योंही कह्यो जु बीरवर, माँगु जो मन में होय।
माँग्यो तब दरबार में, मोहिं न रोकै कोय॥

जान पड़ता है केशव को भी दरबार में जाने में कठिनाई का सामना करना पड़ा होगा। उनके समान व्यक्ति के लिये यह असह्य होगा। इन्होंने बीरबल की प्रशंसा भी की है—

"जूझत ही बलबीर बजे, बहुदारिद के दरबार दमामें।"

अकबर की मृत्यु हो जाने पर जहाँगीर ने बीरसिंह को सारे बुंदेलखण्ड का पट्टा लिख दिया। इसी बात पर बीरसिंह और रामशाह में संघर्ष हो गया। फलस्वरूप रामशाह ओड़छा छोड़ कर दिल्ली चले गये और बीरसिंह राज्य के स्वामी बने। केशवदास का सम्मान वीरसिंह देव ने भी किया। उनका भी उन्होंने यश गाया है। वीरसिंह के समय में ही उन्होंने 'विज्ञानगीता' की रचना की जिसमें विरक्ति के भावों की प्रधानता है। अंतिम दिनों में इन्होंने अवकाश लिया और अपने पुत्रों को अपना स्थान देकर गंगातट पर चले गये। विज्ञानगीता में इसका उल्लेख है—

"वृत्ति दई पुरुषान की देउ बालकनि आसु।
मोहिं आपनों जानि कै गंगातट द्यौ बासु॥
वृत्ति दई पदवी दई दूरि करौं दुख त्रास।
जाइ करौ सकलत्र श्री गङ्गा तट पर बास॥"

परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे वहाँ अधिक देर न रहे। यदि ऐसा न होता तो आगे चल कर जहाँगीर-जस-चन्द्रिका नामक ग्रन्थ की रचना करने की आवश्यकता उन्हें न पड़ती।

केशव विद्वान् थे, दर्शन आदि के ग्रन्थ उन्होंने पढ़े थे और भक्ति के विषय में भी उनकी पहुँच थी। पर भक्ति की वे आवश्यकता समझते थे। उसके लिये उनके हृदय में व्याकुलता नहीं थी अन्यथा राम के चरित्र को लेकर उन्होंने भी भक्ति का स्रोत अवश्य ही बहाया होता। भक्त हृदय में जो कोमलता होनी चाहिये उसके दर्शन केशव की कृतियों में नहीं होते। कृष्णचरित्र को लेकर भी वे शृङ्गार की धारा में ही बह गये। जो भी हो उनके आचार्यत्व पर

तो किसी को संदेह हो ही नहीं सकता। हिन्दी-साहित्य के सुप्रसिद्ध शृङ्गारी कवि बिहारी इनके शिष्य थे। बिहारी के पिता अपनी पत्नी की मृत्यु पर अपने गुरु नरहरिदास के पास ओढ़छे आ गये थे। नरहरिदास के पास केशवदास जी का आना जाना था और उनके अनुरोध से बिहारी को केशव का शिष्यत्व का सौभाग्य मिला। केशव से शिक्षा पाकर बिहारी उनसे भी आगे बढ़ गये।

केशवदास जी की दूसरी शिष्या इन्द्रजीतसिंह की रखेली एक वेश्या थी। उसका नाम प्रवीणराय था। प्रवीणराय अत्यन्त सहृदय, कलाकुशल और कवि थी। वह परम पतिव्रता थी। एक बार अकबर के दरबार में उसे जाना पड़ा। वहाँ अपने कवित्व के बल पर ही उसने अपनी रक्षा की। 'जूठी पतरी भखत हैं, बायस बारी श्वान' कह कर उसने अकबर को भी अपने विरुद्ध जाने में अशक्त कर दिया। उसको केशवदास बहुत मानते थे और उसके पढ़ने के लिये उन्होंने ग्रन्थ रचना की थी। उसकी काव्य-शक्ति पर उन्हें बड़ा भरोसा था। कहा जाता है कि रामविवाह के लिये गालियाँ उसी ने लिखी थीं।

गोस्वामी जी और केशवदास समकालीन थे अस्तु दोनों का साक्षात्कार हुआ हो तो आश्चर्य की बात नहीं। 'गोसाईंचरित' में एक घटना का उल्लेख है। पर उस ग्रन्थ की घटनाओं पर अधिक निर्भर नहीं किया जा सकता, फिर भी यह मान लेने में कोई हानि नहीं है कि तुलसीदास जी से केशवदास का साक्षात्कार हुआ था। उसी के अनुसार रामचन्द्रिका की रचना एक दिन में हुई थी। इस बात पर सहसा विश्वास नहीं हो सकता। कहते हैं तुलसीदास जी ने केशवदास को प्राकृत कवि कहा था और उसी का यह परिणाम था।

केशवदास जी के लिये जहाँ महाकवि शब्द का प्रयोग होता है वहीं प्रेत शब्द से भी उनका स्मरण किया जाता है। इसके संबंध में 'गोसाईं-चरित' का कथन है कि एक बार जब गोसाईं जी दिल्ली जा रहे थे तो मार्ग में उन्हें त्राहि २ की ध्वनि सुनाई पड़ी। वह ध्वनि प्रेतयोनि में पहुँचे हुए केशवदास की थी। रामचन्द्रिका का २१ बार पाठ करा कर गोस्वामी जी ने उन्हें मुक्ति दिलाई। इससे मिलती जुलती अन्य जनश्रुतियाँ हैं परन्तु उनको महत्त्व देने की कोई आवश्यकता नहीं।

उनके प्रेत बनने की कथा भी बड़ी मज़ेदार है। वीरसिंह देव का दरबार चुने हुए लोगों से भरा था। उनको चिंता हुई कि काल की करालता के फलस्वरूप एक दिन सब को अलग २ होना पड़ेगा। इसी विचार से एक यज्ञ किया गया और सारा समाज आग में जल गया। यह कहा नहीं जा सकता कि यह घटना या दुर्घटना कब हुई परन्तु इतना तो पता चलता है कि केशवदास की मृत्यु तुलसीदास जी के समय में ही हो गई थी। तुलसीदास जी की मृत्यु सं० १६८० में मानी जाती है और जहाँगीर-जस-चन्द्रिका का निर्माण १६६६ में हुआ। अतः यह निश्चित ही है कि उनकी मृत्यु इन्हीं संवतों के बीच में किसी समय में हुई होगी। स्व० रामचन्द्र शुक्ल इनकी मृत्यु संवत् १६७४ के आस पास मानते हैं।

केशवदास अत्यन्त रसिक थे। जैसा उनका जीवन था और जिस वातावरण में रहते थे उसे देखते हुए यह स्वाभाविक जान पड़ता है। यही कारण है कि वैराग्य का इन पर कोई प्रभाव न पड़ा वृद्धावस्था में भी उनका झुकाव वासनात्मकता की ओर था। उनका एक दोहा बड़ा प्रसिद्ध है—

"केसव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं॥"

इस दोहे से उनकी वृत्ति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। राजनीति के दाव-पेच भी ये खूब जानते थे। राजदरबार में रहने और राजकार्य से इधर उधर जाने के कारण राज-व्यवहार में ये अत्यन्त दक्ष थे। इन बातों का पता रामचन्द्रिका से अच्छा चलता है। ओरछा नगर और बेतवा नदी का इन्होंने अच्छा वर्णन किया है। ओरछा के बाग, बन, भवन और नागरिकों का वर्णन करके वे कहते हैं—

"केसोदास त्रास जहां केवल अदृष्ट ही को, बारिए नगर और ओरछा नगर पर।"

बेतवा की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं—

"ज्योति जगै जमुना सी लसै, जग लोचन लालित पाप बियो है,
सूरसुता सुभ संगम तुङ्ग, तरङ्ग तरङ्गित गंग सी सोहै॥"

केशवदास की लिखी हुई आठ पुस्तकें मिलती हैं—

१. रामचन्द्रिका २. कविप्रिया ३. रसिकप्रिया ४. विज्ञान-गीता ५. रतनबावनी ६. वीरसिंहदेव चरित ७. जहांगीर-जस-चन्द्रिका ८. नखशिख।

इसके अतिरिक्त स्व० लाला भगवानदीन जी ने अन्य पुस्तकों का भी उल्लेख किया है—(१) छन्दशास्त्र पर एक ग्रन्थ, (२) राम-अलंकृत-मंजरी।

रसिकप्रिया—इसका रचना काल संवत् १६४८ है। इसमें रस का विवेचन किया गया है और नायिका भेद का वर्णन भी है।

कविप्रिया—इसकी रचना संवत् १६५८ में हुई थी इसमें अलंकार का वर्णन है। अलंकार का बहुत व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है और भेदोपभेदों का बहुत विस्तार है।

विज्ञानगीता—इसका समय सं० १६५७ है। दार्शनिक रीति से वैराग्यपूर्ण ज्ञान का इसमें प्रतिपादन है। रूपक के सहारे बहुत कुछ वर्णन किया गया है और बौद्धों तथा सखी संप्रदाय वालों की बड़ी निन्दा है।

रतनबावनी—इस ग्रन्थ में इन्द्रजीतसिंह के बड़े भाई रत्नसिंह की वीरता का वर्णन है। उन्होंने १६ वर्ष की अवस्था में ही युद्ध में अपने प्राण दिये थे।

वीरसिंहदेवचरित—इसका रचना-काल संवत् १६६४ है। इसमें वीरसिंह के चरित का वर्णन है। चरित-काव्य की दृष्टि से इसे सफल नहीं कहा जा सकता।

जहाँगीर-जस-चन्द्रिका—इसका रचना काल १६६९ है। इस में जहाँगीर के चरित का वर्णन है। इसमें भी कवि को सफलता नहीं मिली है।

नखशिख—अपने ढंग का यह उत्तम ग्रंथ है। इसमें अंग-प्रत्यंग का अच्छा वर्णन है।

रामचन्द्रिका—इस ग्रंथ का रचना-काल 'गोसाईंचरित' के अनुसार संवत् १६४३ के लगभग है परन्तु अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। ग्रंथ के आरम्भ में जो दोहा दिया गया है उसके अनुसार इसका रचना-काल संवत् १६५८ सिद्ध होता है—

"सोरह से अट्ठावन कातिक सुदि बुधवार।
रामचन्द्र की चन्द्रिका तब लीन्हों अवतार॥"

ग्रन्थ रचना के संबन्ध में भी केशव स्वयं कहते हैं कि उन्हें रामचन्द्रिका लिखने की प्रेरणा महर्षि वाल्मीकि से मिली—

"वाल्मीकि मुनि स्वप्न में, दीन्हों दरशन चारु।
केशव तिन सों यों कह्यो, क्यों पाऊँ सुख सारु॥
+ + +
न राम देव गाइ है। न देव लोक पाइ है॥"

यही कारण है कि रामचन्द्रिका की रचना का मुख्य आधार वाल्मीकि रामायण है। प्रसन्न-राघव और हनुमन्नाटक का भी कम प्रभाव नहीं है। इसके अतिरिक्त अनर्घराघव, कादम्बरी और नैषध का भी प्रभाव दीखता है। रामचन्द्र की सारी कथा ३९ प्रकाशों में विभक्त है प्रत्येक प्रसंग के लिये एक प्रकाश का निर्माण हुआ है।

केशवदास ने चार प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं। वीरसिंहदेवचरित, जहाँगीर-जस-चन्द्रिका, रतनबावनी और रामचन्द्रिका। रामचन्द्रिका के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों का प्रबन्ध की दृष्टि से न तो अधिक महत्व ही है और न रामभक्ति से कोई सम्बन्ध ही। अस्तु उन ग्रंथों पर विचार करना उपयुक्त नहीं जान पड़ता।

राम की कथा पर भारतवर्ष में बहुत लिखा जा चुका है। जब तक रामकथा को लेकर काव्य-निर्माण में कुछ परिवर्तन न किया जाय अथवा अपनी विशेष प्रतिभा के द्वारा कवि उसमें आकर्षण न उत्पन्न करे तब तक ग्रंथ में आकर्षण उत्पन्न नहीं हो सकता। तुलसीदास जी ने जहाँ अपने 'रामचरितमानस' की कथा में घटना-संबन्धी हेर फेर किया है वहीं अपनी अलौकिक काव्य-प्रतिभा से भी उसे आकर्षक बना दिया है। केशव ने भी ऐसा किया है पर वे उसमें सफल नहीं हुए। उन्होंने कुछ प्रसंगों को इतना संक्षिप्त कर दिया है कि उनका कोई भी महत्व नहीं रह जाता।

रामचन्द्रिका में घटनाओं का आपस में संबंध नहीं जान पड़ता। ऐसा जान पड़ता है कि अलग अलग घटनाओं को आपस में लेकर मिला दिया गया है। बीच बीच में आकस्मिक घटनाओं के द्वारा कथा-प्रवाह बदल दिया गया है। जिन्हें देखकर तिलिस्म के उपन्यासों की ओर ध्यान चला जाता है। राम और परशुराम के बीच में होने वाले संघर्ष की रक्षा करने के लिये स्वयं महादेव आकर खड़े हो जाते हैं। इसमें कथा का प्रवाह मारा जाता है। इसी प्रकार रावण और बाणासुर का स्वयंवर सभा से चला जाना अस्वाभाविक सा लगता है।

प्रबन्ध काव्य में कवि को साधारण से साधारण घटना का ध्यान रखना पड़ता है। परन्तु केशव ने बड़ी घटनाओं की ओर ही अपना ध्यान रक्खा है और छोटी घटनाओं के महत्त्व को न समझ कर उसकी उपेक्षा की है। इसके परिणाम स्वरूप चरित्रों में स्पष्टता नहीं आ सकी। राम का बन जाने के लिये उद्यत होना और अपने परिवार, सेवक प्रजा आदि से बिना मिले ही बन में खड़ा हो जाना प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से बहुत खटकने वाली बात है।

प्रबन्ध में दृश्य-चित्रण का बड़ा आवश्यक स्थान है। विभिन्न स्थलों में प्रयोग किये गये वर्णनों से बड़ी निराशा होती है। जहाँ कहीं वर्णन विस्तृत है भी वहाँ क्लिष्ट कल्पना से काम लिया गया है। पंचवटी की शोभा देखकर उन्हें शिव जी का ध्यान आता है शिव से उसका समन्वय भी तो नहीं कर सके। वे कहते हैं—

सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी।
निघटी रुचि मीचु घटी हु घटी, अब जीव जतीन की छूटी तटी॥
अघ ओघ की बेरी कटी बिकटी, निकटी प्रगटी गुरु ज्ञान गटी।
चहुँ ओरनि नाचति मुक्ति नटी, गुन धूरजटी बन पंचवटी॥

उसी प्रकार गोदावरी नदी का वर्णन करते हुए भी केशव बहुत संक्षेप कर गये हैं—

अति निकट गोदावरी पाप संहारिणी। चल तरंग तुंगावली चारु संचारिणी॥
अलि कमल सौगन्ध लीला मनोहारिणी। बहु नयन देवेश शोभा मनोधारिणी॥

+ + + +

नदी की शोभा को छोड़ कर श्लेष से ऐसे चिपके कि उनका छूटना कठिन हो गया—

विषमय यह गोदावरी, अमृतन को फल देति।
केशव जीवनहार को, दुख अशेष हरि लेति॥

पंपा सरोवर का वर्णन भी इसी प्रकार नीरस सा लगता है—

"केशव केशवराय मनो कमलासन के सिर ऊपर सोहैं।"

+ + + +

"दुख देत तड़ाग तुम्हें न बनै कमला कर है कमलापति को।"

इसका तात्पर्य यह नहीं कि केशव में बाह्य दृश्यों के वर्णन की क्षमता थी ही नहीं। राजसभा में उनका जीवन बीता था। प्रकृति से दूर मनुष्यनिर्मित विहारस्थलों का वर्णन उन्होंने अच्छा किया है रावण के अन्तःपुर का कितना अच्छा वर्णन है—

"कहूँ किन्नरी किन्नरी लै बजावैं। सुरी आसुरी बाँसुरी गीत गावैं॥
कहूँ यक्षिणी पक्षिणी को पढ़ावैं। नगी कन्यका पन्नगी को नचावैं॥
पियें एक हाला गुहैं एक माला। बनी एक बाला नचै चित्रशाला॥
कहूँ कोकिला कोक की कारिका कों पढ़ावैं सुआ लै सुकी सारिका कों॥"

विरहिणी सीता का भी सुन्दर चित्र खींचा गया है—

"धरे एक बेनी मिली मैल सारी। मृणाली मनो पंक सों काढ़ि डारी।
सदा राम नामै रटै दीन बानी। चहूँ ओर हैं एक सी दुःख दानी॥
ग्रसी बुद्धि सी चित्त चिन्तानि मानौं। किधौं जीभ दन्तावली में बखानौं।
किधौं घेरि कै राहु नारीन लीनी। कला चन्द्र की चारु पीयूष भीनी॥"

ऋतुवर्णन में भी केशवदास असफल रहे। वर्षावर्णन की पंक्तियाँ देखिये—

घन घोर घने दशहूँ दिशि धाए। मघवा जनु सूरज पै चढ़ि आए॥
अपराध विना क्षिति के तन ताये। तिन पीड़न पीड़ित ह्वै उठि धाए॥

शरद को तो वृद्धादासी बनना ही पड़ा है—

लक्ष्मण दासी वृद्ध सो, आई शरद सुजाति।
मनहुँ जगावन कौं हमहिं, बीते वर्षा राति॥

सूर्योदय के वर्णन में भी परम्परा के अनुसार जहाँ तक उन्होंने लिखा है ठीक है; परन्तु जहाँ उन्होंने अपनी कल्पना मिलाई है वहाँ उसकी शोभा नष्ट हो गई। कपाल से सूर्य्य की तुलना अच्छी नहीं लगती।

"कै श्रोणित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को"

केशव में संवेदना की कमी है। इसी लिए न तो उनकी दृष्टि ही सूक्ष्म हुई न उसके चरित्र ही अधिक स्पष्ट हुए हैं। कहीं कहीं मनुष्य की भिन्न भिन्न दशाओं पर उनकी उक्तियाँ अच्छी हैं। राम के वन-गमन से दुखी कौशल्या का यह कहना कि पुत्र तुम वन न जाओ स्वाभाविक ही है। परन्तु इससे कौशल्या के चरित की उदात्तता नहीं जान पड़ती। इसी प्रकार जब राम लक्ष्मण से घर पर रहने का आदेश देते हैं उस समय भरत के संबंध में सन्देहजनक बात कह जाते हैं—

"भाई भरत कहा धौं करैं।"

तुलसीदास जी ने कभी ऐसी बात राम के मुँह से नहीं कहलाई। कैकेयी का चट पट राम को वन भेजने का निश्चय कर लेना

जहाँ अस्वाभाविक है वहीं उसके चरित को अँधेरे में डाल देता है। सीताहरण के समय सीता के मुख से बहुत सी ऐसी बातें कहलाई जा सकती थीं। जिनसे सीता का चरित स्पष्ट होता पर वहाँ भी चार पंक्तियों में केवल सहायता की पुकार की जाती है और उसका भी कोई विशेष प्रभाव नहीं।

संवाद नाटक की व तु है। प्रबंध काव्य में इसके समावेश से सजीवता आती है। संवाद के द्वारा चरित्रों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। रामचन्द्रिका में संवादों के कारण बहुत कुछ आकर्षण आ गया है। इन संवादों में से राम-परशुराम-संवाद, कैकेयी भरत-संवाद, रावण-अंगद-संवाद, सीता-रावण-संवाद आदि मुख्य हैं। केशव ने परशुराम की मर्यादा का बहुत ध्यान रक्खा है। उसी प्रकार अंगद-रावण-संवाद में अंगद रावण की मर्यादा का पर्याप्त ध्यान रखते हैं, सत्य बातें कही जाती हैं पर शिष्टता से और संयम के साथ। केशव के संवादों की लोकप्रियता का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि रामलीलाओं में उनको स्थान दिया जाता है। अंगद-रावण-संवाद का एक उदाहरण लीजिये—

''राम को काम कहा ?' 'रिपु जीतहिं' 'कौन कबै रिपु जीत्यो कहाँ ?'
'बालि बली' 'छल सों', 'भृगु नंदन गर्व हरयो' 'द्विज दीन महा' ॥
'दीन सो क्यों ?' 'छिति छत्र हत्यो विन प्राननि हैहय राज कियो'
'हैहय कौन ?' 'वहै विसरयो ? जिन खेलत ही तुम्हें बाँधि लियो ॥'

संवादों के आधिक्य से प्रबंध की शृंखला टूट सी जाती है। थोड़ा बहुत संवाद का समावेश अवश्य ही प्रबंध काव्य को रोचक बना देता है। उसे बिलकुल नाटक का रूप दे देना प्रबंध काव्य की सफलता में हानिकर होता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि केशवदास की कविता में हृदयपक्ष निर्बल है। जहाँ कहीं मानव हृदय के चित्रण का अवसर आया है वहाँ भी उन्होंने उससे लाभ नहीं उठाया है। अशोक-वाटिका की सीता से यदि चाहते तो वे बहुत कुछ कहला सकते थे। परन्तु वहाँ भी केवल अलंकारों के फेर में पड़कर उन्होंने वह सुअवसर खो दिया। हनुमान द्वारा दी गई मुद्रिका को देखकर सीता जो कुछ कहती हैं, उसकी ओर हृदय आकृष्ट नहीं होता

उनकी आलंकारिक भाषा को देखकर वाह वाह करने का जी ज़रूर चाहता है। उस प्रसंग का एक दोहा देखिये—

"श्री पुर मैं, बन मध्य हौं, तू मग करी अनीति।
कहि मुँदरी अब तियन की, को करिहैं परतीति॥"

उसी प्रकार सीता की अग्नि-परीक्षा देखकर केशव का हृदय द्रवित नहीं हुआ। उनकी तुलना के लिये वे कैलास और इन्द्रपुरी की ओर दौड़ पड़े। वे कहते हैं—

"महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी। कि संग्राम की भूमि में चण्डिका सी।
मनो रत्नसिंहासनस्था सची है। किधौं रागिनी राग पूरे रची है॥"

जहाँ वीरता के भाव व्यक्त करने की आवश्यकता हुई है वहाँ केशव को अधिक सफलता मिली है। धनुषयज्ञ के समय रावण के मुख से जो गर्वोक्ति होती है वह वीरोचित है। राम की सेना से लवकुश का युद्ध होता है। उस समय उन बालकों के मुख से जो वीरतापूर्ण शब्द निकलते हैं वे बड़े ही आकर्षक हैं। लक्ष्मण से कुश कहते हैं—

"न हौं मकराक्ष न हौं इन्द्रजीत। विलोकि तुम्हें रण होहुँ न भीत॥
सदा तुम लक्ष्मण उत्तम गाथ। करौ जनि आपुनि मातु अनाथ॥"

रौद्र और भयानक रस के चित्रण में केशव को सफलता मिली है। लक्ष्मण के मूर्छित होने पर पहले तो राम विलाप करते हैं फिर क्रोध में भरकर रौद्र रूप धारण कर लेते हैं। वे कह उठते हैं—

"करि आदित्य अदृष्ट नष्ट जम करौं अष्ट बसु।
रुद्रन बोरि समुद्र करौं गंधर्व सर्व पसु॥
बलित अबेर कुबेर बलिहिं गहि देउँ इन्द्र अब।
विद्याधरन अविद्य करौं बिन सिद्ध सिद्ध सब॥"

जलती लंका का वर्णन देखिये—

"चली भागि चौहूँ दिसा राजरानी। मिली ज्वाल माला घिरैं दुःखदानी॥
मनो ईस बानावली लाल लोलैं। सबै दैत्यजायान के संग डोलैं॥"

परन्तु ऐसे ही प्रसंगों का जितना सुन्दर वर्णन तुलसीदास ने किया है केशव से न हो सका।

हिन्दी साहित्य के सर्वप्रथम आचार्य कवि केशवदास अलंकारों के बड़े प्रेमी थे। इनके लिखे हुये ग्रन्थ 'कविप्रिया' में अलंकारों का विशद विवेचन किया गया है। अलंकारों का साहित्य

में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। उनके द्वारा कवि जो कुछ कहना चाहता है वह आकर्षक हो जाता है। उसका सौंदर्य बढ़ जाता है। परन्तु केशव ने अपनी कविता को अलंकारों से इतना लादा है कि उसका अपना सौंदर्य ही लुप्त हो गया है। जहाँ जहाँ कविता भाव और रस से विहीन केवल एक कथन-मात्र रह जाती है वहाँ तो अलंकार और भी खटकने लगते हैं। अलंकारों का प्रयोग भी स्थान को देखकर होना चाहिये। जहाँ स्वाभाविक रूप में अलंकारों का प्रयोग हुआ है वहाँ रचना बड़ी आकर्षक हो गई है। एक उत्प्रेक्षा का उदाहरण लीजिए—

"जटी अग्निज्वाला अटा सेत है यों। सरत्काल के मेघ संध्या समै ज्यों॥
लगी ज्वाल धूमावली नील राजैं। मनो स्वर्ग की किंकिणी नाग साजैं॥"

आकाश में जाते हुए हनुमान का आलंकारिक वर्णन भी दर्शनीय है—

"हरि कैसो वाहन की विधि कैसो हेमहंस,
लीक सी लिखत नभ पाहन के अंक कों।
तेज की निधान राम मुद्रिका-विभाग कैधौं,
लच्छण को बाण छूट्यो रावन निशंक कों।
गिरि गजमंड तें उड़ान्यो सुबरन अलि,
सीता पद-पंकज सदा कलंक रंक कों।
हवाई सी छूटी केशोदास आसमान में,
कमान कैसो गोला हनुमान चल्यो लंक कों।"

अलंकारों के बाहुल्य से जहाँ कविता दब कर निष्प्राण हो गई है उसके अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। एक नमूने के रूप में पंचवटी का वर्णन देखिए—

"पांडव की प्रतिमा सम लेखी। अर्जुन भीम महामति देखो॥
है सुभगा सम दीपति पूरी। सिंदुर की तिलकावलि रूरी॥
राजति है यह ज्यों कुलकन्या। धाइ विराजत है सँग धन्या॥
केलि थली जनु श्री गिरिजा की। शोभ धरे सितकंठ प्रभा की॥"

छंद के बिना कविता में मिठास का अभाव हो जाता है। श्रुति सुख के लिए छन्दों का होना आवश्यक है। रामचन्द्रिका में छंदों के जितने रूप एक साथ दीखते हैं, उतने हिन्दी के किसी प्रबंध-काव्य में न मिलेंगे। ऐसा जान पड़ता है मानों केशवदास ने छंदों

का उदाहरण देने के लिए ही इस ग्रंथ की रचना की हो। बहुत से ऐसे छन्द हैं जिनका अन्यत्र ढूँढ़ने से भी मिलना कठिन है। साथ ही बहुत से स्वरचित छन्दों के अनेक उपभेद भी मिलते हैं। छोटे से छोटे और बड़े से बड़े छंद इनकी इस रचना में मिलते हैं। एक ओर एक अक्षर के चरण वाले छंद हैं तो दूसरी ओर दण्डक विद्यमान हैं। रामचन्द्रिका में छन्दों का इतनी शीघ्रता से बदलना अच्छा नहीं लगता, इससे प्रबंधरचना को हानि पहुँचती है।

केशवदास ने प्रचलित काव्य-भाषा ब्रजभाषा में अपनी रचना की है। परन्तु बुंदेलखण्डी, प्राकृत और संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी खूब दिखाई पड़ता है। जैसे—

बुंदेलखंडी—उपदि=स्वतंत्रता से। गलसुई=एक प्रकार का तकिया। प्राकृत—वियो=दूसरा। संस्कृत—तिमिंगिलादिक=तिमिंगिल जलचर आदि।

वाक्यरचना में भी उन्होंने ऐसे प्रयोग किये हैं जो व्याकरण-सम्मत नहीं और मुहावरे की दृष्टि से अनुपयुक्त हैं। शैली अत्यन्त कठिन और अस्पष्ट है। इसी पर तो किसी ने कहा होगा—

"कविकहँ देन न चहै बिदाई। पूछै केशव की कविताई॥

मधुर और प्रसाद-गुण-पूर्ण पंक्तियाँ तो बहुत ही कम हैं वैसे ही जैसे दुर्गम पर्वत में जल का कोई सोता।

जो भी हो केशवदास का हिन्दी-साहित्य में अपना स्थान है और रामचन्द्रिका के रचयिता होने के कारण उनकी गणना राम-भक्ति-शाखा के कवियों में होती है। उनकी रचनाएँ विद्यार्थियों के अध्ययन की वस्तु है पर सामान्य जनता को तो विशेष स्थलों में ही आनन्द मिल सकता है। राजनीतिक दाँव-पेच, राज-दरबार वर्णन आदि में वे और कवियों से आगे हैं। परन्तु प्रबन्ध की दृष्टि से उसका बहुत अधिक महत्त्व नहीं।

अष्टम अध्याय

अन्य कवि

जन-साधारण में भगवान् राम की भक्ति का प्रचार सर्वप्रथम रामानन्द ने किया। उनके बाद में जो भी राम के भक्त हुए उन्होंने राम की भक्ति में कुछ न कुछ फुटकर रचनाएँ अवश्य की पर

उन्हें विशेष महत्व न प्राप्त हो सका। संस्कृत साहित्य में रामकथा के प्रचार का जो श्रेय वाल्मीकि को है वही भाषा-काव्यक्षेत्र में तुलसीदास को। उनके पहले की रचनाएँ बहुत कम उपलब्ध होती हैं। बाद के कवियों की रचनाएँ अवश्य मिलती हैं पर वे या तो तुलसीदास की नकल प्रतीत होती हैं अथवा उनमें हृदय की तल्लीनता का तथा काव्य के चमत्कार का इतना अभाव है कि वे प्रसिद्धि प्राप्त न कर सकीं। केशवदास की रामचन्द्रिका पहली कोटि में आती है। रामचन्द्रिका को जो कुछ प्रसिद्धि प्राप्त हो सकी है उसका कारण रामकथा की जनप्रियता है। आचार्यत्व-प्रदर्शन के पीछे केशव ने कवित्व की अवहेलना की है। हृदय पक्ष प्रायः दब गया है। ये तुलसीदास जी के समकालीन थे।

दूसरी कोटि में नाभादास और अग्रदास आदि की रचनाएँ आती हैं, उनमें भक्ति का भाव पूरा पूरा पाया जाता है, पर कवित्व की इतनी कमी है कि उनकी रचनाएँ हृदयाकर्षक नहीं रह सकी हैं। कहीं २ तो उनकी रचनाएँ इतिवृत्त मात्र हो गई हैं। तात्पर्य यह है कि गोस्वामी जी के बाद रामभक्ति की धारा में क्षीणता आती गई। रामकाव्य में वह प्रगतिशीलता न रह गई जो किसी काव्य समुदाय को जनप्रिय तथा सहृदयों का मनोरंजन करनेवाला बनाती है। रामभक्तिधारा में क्षीणता आने का एक कारण उसमें साम्प्रदायिकता का प्रवेश भी है, तुलसीदास जी ने अपने प्रयत्न भर अपनी भक्तिभावना को साम्प्रदायिकता की छूत से बचाने का प्रयत्न किया। साम्प्रदायिकता मनुष्य की प्रवृत्ति है। भक्ति का अजस्र और निर्मल प्रवाह ज्यों ज्यों कम होता जाता है, साम्प्रदायिकता अपना घर कर जाती है। साम्प्रदायिकता का अर्थ है तल्लीनता का अभाव और बाह्य आचरणों, आडम्बरों के प्रति झुकाव। राम-भक्ति शाखा में भी यही बात हुई। कृष्ण-भक्ति शाखा के अनुकरण पर राम की उपासना में भी माधुर्य भाव की उपासना की कल्पना की गई, सखी संप्रदाय का संगठन हुआ। सखी भाव की उपासना में शृङ्गार का समावेश भी हुआ। राम और सीता की शृङ्गार-चेष्टाओं का वर्णन तथा भक्तों का सीता के साथ सपत्नी भाव इस संप्रदाय का मुख्य लक्षण है। गोसाईं जी ने राम के मर्यादापुरुषोत्तम-स्वरूप की प्रतिष्ठा की थी, इसी लिये राम-

भक्ति का यह संप्रदाय उसे अधिक विकृत न कर सका। इस प्रकार रामभक्ति शाखा की जो प्रगति ह्रास की ओर जा रही थी द्विवेदी युग में आकर उसमें प्रगतिशीलता के दर्शन होते हैं। रामभक्ति-क्षेत्र में एक नई धारा बही। रामचरित उपाध्याय और श्री मैथिलीशरण गुप्त ने राम के चरित का गान किया। गुप्त जी ने राम की कथा में एक नई दिशा का संकेत किया, वाल्मीकि के राम की मानवीयता जो भक्तिकाल में राम के अलौकिकत्व से दब गई थी फिर उन्मेष को प्राप्त हुई। इसका तात्पर्य यह नहीं कि गुप्त जी में भक्तिभावना की कमी है। गुप्त जी राम के अनन्य भक्त हैं, पर प्रत्येक बात को तर्क की कसौटी पर कसना आज के युग का धर्म है। गुप्त जी समय की छाप से बच नहीं सकते। अस्तु रामकृष्ण में अलौकिकता को दूर करने में उन्होंने पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से काम चलाया है। उन्होंने पात्रों में मानव-आदर्श-प्रियता भरने का प्रयत्न भी किया है। गुप्त जी उदारहृदय भक्त हैं। हरिऔध जी यद्यपि आज के युग में कृष्ण-काव्य के प्रतीक हैं पर उन्होंने वैदेही-वनवास की रचना कर रामकथा के प्रति भी अपनी रुचि दिखाई है। हरिऔध जी राम को रामायण से नरत्व की ओर ला रहे हैं। उन्होंने प्रत्येक घटना को मनुष्य की दृष्टि से समझने का-व्याख्या करने का प्रयास किया है।

अग्रदास जी—तुलसीदास जी के समकालीन रामभक्त कवियों में नाभादास और अग्रदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अग्रदास जी के गुरु का नाम कृष्णदास पयहारी था। पयहारी जी अष्टछाप के कवि तथा कृष्ण के उपासक थे। अग्रदास जी की रुचि रामकथा की ओर अधिक थी। रामभक्ति पर इन्होंने "हितोपदेश उपखाणां बावनी" की रचना की। इसम कुण्डलिया छंदों में रामगुणगान किया गया है। प्रसिद्ध कृष्णभक्त-कवि नंददास की शैली पर इन्होंने रचना की है।

"कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा।
तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा॥
मेचक कुटिल बिसाल सरोरुह नैन सुहाए।
मुख पंकज के निकट मनो अलि छौना छाए॥"

ध्यानमंजरी, राम-ध्यान मंजरी, कुण्डलियाँ ये तीन ग्रंथ इनके रचे और मिलते हैं।

नाभादास जी—अग्रदास जी के शिष्य और तुलसीदास जी के समकालीन थे। तुलसीदास जी के संबन्ध में इन्होंने अपने भक्तमाल में लिखा है—

"कलि कुटिल जीव निस्तार-हित बालमीक तुलसी भयो।"

ये एक पहुँचे हुए भक्त थे पर रामभक्ति के स्वरूप में कोई नई उद्भावना नहीं कर सके, तुलसीदास के चरणचिह्नों पर चलकर ही इन्होंने राम के प्रति अपनी भावनाओं का अर्पण किया, ये ब्रजभाषा के कवि थे। राम की उपासना में इन्होंने फुटकर पद्यरचना की है जिनका एक संग्रह प्रकाशित भी हो चुका है। ये भक्त पहले और कवि बाद में थे, इन्होंने अवधी में दोहा चौपाइयों में एक अष्टयाम की रचना की थी। एक उदाहरण देखिये—

"अवधपुरी की सोभा जैसी, कहि नहिं सकहिं शेष श्रुति तैसी।
रचित कोट कलधौत सुहावन, विविध रंग मति अति मन भावन।
चहुँ दिसि विपिन प्रमोद अनूपा, चतुर बीस जोजन रस रूपा।
सुदिसि नगर सरजू सरि पावन, मनिमय तीरथ परम सुहावन।
विगसे जलज, भृंग रस भूले, गुंजत जल समूह दोउ कूले।
परिखा प्रति चहुँ दिसि लसति, कञ्चन कोट प्रकास।
विविध भाँति नग जगमगत, प्रति गोपुर पुर पास॥"

इन्होंने 'अष्टयाम' नाम से जभाषा गद्य में भी एक पुस्तक लिखी थी।

प्राणचन्द चौहान—ये गोसाईं जी के समय में वर्तमान थे। इन्होंने 'रामायण महानाटक' लिखा। इसमें नाटक के तत्व उपलब्ध नहीं होते। न तो यह रङ्गमञ्च में खेले जाने योग्य है और न इसमें पात्रों के चरित्र का विकास ही नाटकीय ढंग से हुआ है। वास्तव में इतनी विस्तृत कथावस्तु नाटक के अनुपयुक्त होती है। नाटक का एक तत्व संवाद ही इसमें है इसीलिए इसे नाटक कहा गया है। ये रामभक्त थे और रामकथा का जनसाधारण में प्रचार करने के लिए नाटकों में रुचि रखने वाले भक्तों के सन्तोष के लिए इन्होंने इसकी रचना की। भाषा इनकी ठेठ अवधी है, चौपाई ही इन्हें प्रिय है। इनकी शैली और भाषा जायसी से मिलती जुलती है। प्रसाद गुण इनकी अपनी विशेषता है। जैसे—

"संवत् सोरह सै सत साठा। पुन्य प्रगास पाप भय नाठा॥
जो सारद माता करु दाया। बरनौं आदि पुरुष की माया॥
आदि पुरुष बरनौं केहि भाँती। चाँद सुरज तहँ दिवस न राती॥"

हृदयराम—ये पंजाबी थे, इनके पिता का नाम कृष्णदास था। इन्होंने भाषा "हनुमन्नाटक" की रचना की। इसी नाम से संस्कृत में भी यह नाटक है, तुलसीदास जी के समय में लिखे गये रामकथा सम्बन्धी सब नाटकों में इनका नाटक सर्वश्रेष्ठ है, इसकी भाषा व्रजभाषा है। ये उच्चकोटि के कवि थे। तुलसीदास जी के समय के फुटकर कवियों में इनका प्रमुख स्थान है। इनका नाटक यद्यपि रङ्ग-मञ्च पर खेलने योग्य तो नहीं है पर उसमें असंबद्धता आदि दोष नहीं आ पाए है। घटनाओं का क्रमिक विकास उसमें है। संवाद तो बड़े ही सुन्दर बन पड़े हैं। संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर इन्होंने अपना नाटक लिखा है। संस्कृत हनुमन्नाटक के संवाद उसकी अपनी विशेषता हैं उसी का प्रभाव इनकी रचना पर भी है। अंतर केवल इतना है कि संस्कृत में गद्य पद्य दोनों हैं पर इन्होंने केवल पद्य में ही नाटक रचा।

"एहो हनू! कह्यो श्री रघुवीर कछू सुधिहै सिय की छिति माँही?
है प्रभु लंक कलंक बिना सु बसै तहँ रावन बाग की छाँही॥
जीवति है? कहिबेई को नाथ, सु क्यों न मरी हमतें बिछुराहीं?
प्रान बसैं पद पंकज में जम आवत है पर पेखत नाहीं॥"

यहाँ संवाद की रक्षा के लिए ही तीसरी पंक्ति में राम से प्रश्न कराया गया "सु क्यों न मरी हमतें बिछुराहीं?" अगली पंक्ति के चमत्कारिक उत्तर के प्रदर्शन के लिए ही ऐसा किया गया। राम के मुख से ऐसा प्रश्न शोभा नहीं देता। पर ऐसी त्रुटियां बहुत कम हैं। संवाद के सारे ही स्थल सुंदर बन पड़े हैं। वीरोन्माद का वर्णन कैसा सुन्दर है!

"देखन जौ पाऊँ तौ पठाऊँ जमलोक हाथ,
दूजो न लगाऊँ, वार करौं एक कर को,
मीजि मारौं उर ते उखारि भुजदण्ड, हाड़,
तोरि डारौं वर अवलोक रघुवर को॥
कासों राग द्विज को, रिसात महराज राम,
अति थहरात गात लागत है धर को।

सीता को सँताप मेटि प्रगट प्रताप कीनो,
को है वह आप चाप तोरयो जिन हर को ॥"

सेनापति—इनका जन्म लगभग सं० १६४६ के हुआ था, ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम गंगाधर तथा पितामह का परशुराम था। इनके पूर्वज अनूपशहर ज़िला बुलंदशहर में आ बसे थे। इनके गुरु हीरामणि दीक्षित थे। सेनापति उच्च कोटि के कवि थे और उनकी कविता में कवित्व और पाण्डित्य झलकता है। हृदयपक्ष की कमी इनकी रचनाओं में भी खटकती है। बात यह है कि केशव की भांति इनमें भी रीतिकालीन प्रवृत्ति के बीज मिलते हैं। कवित्त-रत्नाकर का पहला अध्याय तो श्लेष के चमत्कार को दिखाने के लिए ही लिखा गया है। ऋतुवर्णन तथा काव्यकल्पद्रुम की रचना भी इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। ये स्मार्त थे। कृष्ण की जन्मभूमि वृन्दावन इन्हें बहुत प्रिय थी।

"हरिजन पुंजन में, वृन्दावन कुंजन में, रहौं बैठि कहूँ तरवर तर जायकै।"

इनके इष्टदेव राम थे। देखिए राम के अनुपम सौंदर्य का वर्णन किस सुन्दरता के साथ किया है—

"जनकनरिन्दनन्दिनी को वदनारविंद, सुन्दर बखानों सेनापति वेद चारिकै।
बरनी न जाइ जाकी नेकहू निकाई, लोकराई करि पंकज निसंक डारे मारिकै।
बार बार जाकी बराबरि को बिधाता अब, रचि पचि विधु को बनावत सुधारिकै।
पूनो को बनाय जब जानत न वैसो भयो, कुहू के कपट तब डारत बिगारिकै।"

इनकी रामभक्तिपूर्ण पद्यों में तुलसी के मानस का स्वाभाविक पर गम्भीर वातावरण, गीतावली की मधुर, स्निग्ध और अकृत्रिम भावनाएँ तथा विनयपत्रिका की निश्छल दैन्यानुभूति को यदि ढूँढ़ना चाहें तो शायद न मिले पर इनके पद्यों में भक्त की तन्मयता और एकनिष्ठता के दर्शन नहीं होते—यह कहना भी प्रकट सत्य से आखें मूँदना होगा।

अलंकारों की योजना और चमत्कारविधान भले ही इनकी रचनाओं को नाभादास और तुलसीदास की रचनाओं की कोटि से अलग रखें पर उस आवरण के भीतर प्रकाशमान भक्तहृदय की उपेक्षा नहीं की जा सकती, अनुभूति में वे नाभादास से कम नहीं हैं। सिद्धान्त में वे तुलसीदास के अनुयायी थे, राम का भक्त-वत्सल रूप ही उन्हें अधिक प्रिय था तथा राम और शिव की एकता पर

भी इन्होंने ज़ोर दिया है। गंगा और शिव की स्तुति बड़ी सुंदर हुई है। राम के वीर स्वरूप का वर्णन उन्होंने उत्साह से किया है। राम के शिरीषकोमल रूप से ये कम प्रभावित हैं, करुण स्थलों के वर्णन में उनकी चित्तवृत्ति नहीं रमती वे सगुणोपासना के पक्षपाती थे पर उन्होंने निर्गुण को भी सिद्धान्ततः स्वीकार किया है। उनके विचार में जीवन नश्वर है, संसार अनित्य है, और पापों का अन्त राम की शरण में जाने पर हो सकता है। 'रामरसायन' में इनकी दैन्यभावना पद-पद पर मिलती है।

ये बड़े स्वाभिमानी कवि थे। ऋतुवर्णन बड़ा सुन्दर हुआ है विषय के बाहर होने पर भी एक उदाहरण देखिये—

"सेनापति उनए नए जलद सावन के, चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय कै।
सोभा सरसाने नवखाने जाते कैहूँ भाँति, आने हैं पहार मानो काजर के ढोय कै।
घन सों गगन छायो, तिमिर सघन भयो, देखि न परत मानो रवि गयो खोय कै।
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम मानि, मेरे जान याही से रहत हरि सोय कै॥"

ओजस्विता इनकी विशेषता है—

"बालि को सपूत कपि कुल-पुरहूत, रघुवीर जू को दूत धरि रूप विकराल को।
युद्धमद गाढ़ो पाँव रोपि भयो ठाढ़ो, सेनापति बल बाढ़ो रामचन्द्र भुवपाल को।
कच्छप कहलि रह्यो, कुंडली टहलि रह्यो, दिग्गज दहलि त्रास परो चक चाल को।
पाँव के धरत अति भार के परत भयो, एक ही परत मिली सपत पताल को॥"

भिखारीदास—दास जी जाति के कायस्थ थे, इनके बनाए हुए १० ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें अधिकांश रीतिग्रन्थ ही हैं। इनका रचनाकाल १७८५ से १८०७ तक माना जाता है। इन्होंने रामकथा को लेकर 'रघुनाथ नाटक' की रचना की है। यह भी खण्डित ही मिल सका है, पर जितना प्राप्य है उसकी भाषा और भाव इस बात के साक्षी हैं कि यह दास जी की रचना है, राम के प्रति इनकी भक्तिभावना बाद की रामकाव्य की शृंगारिक भावना से प्रभावित है, एक छंद में रामपंचायतन का वर्णन देखिये—

"बाम ओर जानकी कृपानिधान के विराजै, धरे भुजा अस देखे नृत्य सुखकारी है।
भरत लषन सत्रुहन खवावई पान, चँवर डुलावै गावै तन को संभारी है।
अतर अबीर औ गुलाल छूटै चहूँ दिसि, देखैं सुर कौतुक विमान चढ़ि भारी है।
विष विष देखि कै सुवाँग रीझि रीझि हँसै, दास यह औसर की जात बलिहारी है।"

महाराज विश्वनाथसिंह—रीवाँ के महाराज थे। इनका राज्य-

काल सं० १७७८ से लेकर १७९७ तक है। इनके यहाँ अनेक कवि और विद्वान् रहा करते थे। ये स्वयं भी विद्वान् थे। इनके बनाए कुछ ग्रंथ पाए जाते हैं। इनमें अधिकांश भक्तिविषयक रचनायें हैं। इनके पूर्वज कबीरपंथी रहे हैं अतः इन्होंने निर्गुण की उपासना में रमैनी आदि की रचना की है। वास्तव में ये सगुण राम के उपासक थे। राम के संबंध में इन्होंने ८ ग्रंथ लिखे हैं—(१) आनंद रघुनंदन (२) गीतारघुनंदनशतिका (३) रामायण (४) गीता रघुनंदन प्रामाणिक (५) विनयपत्रिका की टीका (६) रामचंद्र की सवारी (७) आनंद रामायण (८) संगीत रघुनंदन।

आनंदरामायण ब्रज भाषा में लिखा हुआ नाटक है। यही सब से पहला नाटक माना जाता है। इसमें सात अंक हैं। इसमें राम जन्मोत्सव से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। भारतेन्दु ने इसे छंदप्रधान नाटक कहा है। संवाद ब्रजभाषा गद्य में हैं। महाराज विश्वनाथसिंह जी ब्रजभाषा के सर्वप्रथम नाटककार और कवि थे। अन्य कवियों की कुछ रचनाएँ भी इनके नाम से प्रसिद्ध हो गई हैं। पर इससे इनके कवित्व पर कोई आँच नहीं आती, ये एक सफल कवि थे। इनकी रचनाओं में प्रसादगुण की प्रधानता है। जहाँ जहाँ इनकी कविता में मधुर भावों की व्यंजना हुई है वह आकर्षक हो गई है—

"उठौ कुँवर दोउ प्रान पियारे।
हिमऋतु प्रात पाप सब मिटिगे नभसर पसरे पुहकर तारे॥"

महाराज रघुराजसिंह—ये राम के परम भक्त और विद्वान् थे। रीवा के जनप्रिय महाराजाओं में इनका प्रधान स्थान है। इनका काल सं० १८८० से १९३६ तक माना जाता है। इनके आश्रय में अनेक कविगण रहे थे। रीवाँ के विद्याव्यसनी महाराजाओं की प्रवृत्ति काव्य-कला की ओर झुकी रही है। साहित्य से उन्हें कुछ विशेष प्रेम होता रहा है। रामभक्ति का प्रचार भी रीवाँ राज्य में बहुत है। वहाँ अब भी ऐसे व्यक्ति मिल सकते हैं, जिन्हें रामचन्द्रिका और रामायण कण्ठस्थ हैं। रघुराजसिंह ने हिन्दी काव्य-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। इनके बनाए मुख्य ग्रंथ रामस्वयंवर, रुक्मिणीपरिणय, आनंदाम्बुनिधि और रामाष्टयाम प्रसिद्ध हैं। रघुराजविलास नाम से इनकी रचनाओं का एक संग्रह

ग्रंथ भी प्रसिद्ध है। रामचन्द्र जी के वर्णन करने में इन्होंने मृगया और राजसी ठाट बाट का वर्णन बहुत सुंदर किया है। इसका एक कारण यह भी है कि ये स्वयं राजा थे, इन्हें इन बातों का स्वयं अनुभव था, वात्सल्यमयी माता कौशल्या मिथिला के दूत के मुख से राम के वीर कृत्यों का वर्णन सुनकर क्या कहती हैं ज़रा सुनिये तो—

"डरत हुतो जो भौन प्रेत परिछाहीं जानि,
ताड़ुका भयंकरी को कौन विधि मारयो है।
जात जो सहमि सुनि राक्षसकहानी कान,
मुनि मख राखि सो निसाचर संहारयो है।
फटिक-फरस खेलें कबहुँ न नारि कढ़ी,
गौतम की गेहनी सो सिला ते निकारयो है।
भनै 'रघुराज' साँची भाखौ तिरहुत इत,
भूतपति धनु मेरो पूत तोरि डारयो है॥"

ये सखी संप्रदाय से प्रभावित अवश्य थे। इनकी रचनाओं में सीताराम के झूलना आदि का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है।

"आवत भीजत दोऊ हो।
सरयू तीर कदम्ब झुलन हित सखि सब कोऊ हो॥
बरषत मंद मंद घनवुन्दन चुवत अरुण पट हो।
वे पटुका लै ओट करत कर वै अंचल पट हो॥
छहरि छहरि छिति छण छण छण छबि पुनि पुनि दुरति दिशानन हो।
मनु अघाति नहिं लखि लखि सिय, रघुनन्दन आनन हो॥"

जानकीरसिकशरण—ये १८ वीं शताब्दी के अन्त में विद्यमान थे, ठेठ अवधी में इन्होंने रामचरित्र का गान किया है। ये अयोध्या के निवासी थे, राम की माधुर्यभावना की उपासना की ओर इनका झुकाव था। 'अवधी सागर' नामक ग्रन्थ में इन्होंने सीता राम के रास, नृत्य, विहार आदि शृङ्गारी चेष्टाओं का वर्णन किया है। शृङ्गारिक होने के कारण उनकी रचनाओं में सरसता अधिक आ गई है।

श्री जनकराजकिशोरीशरण—इन्होंने राम-सीता के शृङ्गार का आकर्षक वर्णन किया है। ऋतु विहार के वर्णन में शृङ्गार का वर्णन कुछ असंयत हो गया है। जानकीशरणाभरण, रामरसतरङ्गिणी,

रघुवरकरुणाभरण, सीताराम-सिद्धान्तमुक्तावली आदि कई ग्रन्थ इनके रचे मिलते हैं।

यह परंपरा १६ वीं शताब्दी के अन्त तक चली आई, नवलसिंह कायस्थ ने रामचन्द्रविलास में राम का गुणगान इसी भाव से किया है। प्रतापसिंह ने भी सीताराम के नखशिख का वर्णन 'जुगल नखशिख' में बड़ी ही सुन्दरता के साथ किया है। अयोध्या के महन्त रामचरनदास, छपरा के जीवाराम जी तथा लक्ष्मणकिला (अयोध्या) के युगलानन्दशरण आदि ने सखीभाव से उपासना की है और उसी के अनुसार उनकी रचनाएँ शृङ्गारमयी हो गई हैं। हर्ष की बात है, इस परम्परा का अन्त साहित्यक्षेत्र में शीघ्र ही हो गया, द्विवेदीयुग में आकर राम के आदर्श रूप को लेकर ही रचनाएँ हुईं। १६ वीं शताब्दी के अन्त में ऐसी रचनाओं का प्राधान्य है। और रचनायें भी हुई हैं जैसे नवीन कवि ने सुधासागर नामक ग्रंथ में रामसमाज का वर्णन बड़े ही संयत रूप में किया है। नीति और भक्ति पर भी कुछ पद हैं। इस ग्रंथ का रचनाकाल सं० १६८५ है। यह नवीन कवि जोधपुर नरेश जसवन्तसिंह के आश्रित प्रसिद्ध नवीन कवि से भिन्न थे। ये जाति के कायस्थ और जयपुर के ईशकवि के शिष्य थे। नाभा के जसवन्तसिंह के आश्रय में ये रहते थे, कृष्ण-सम्बन्धी इनकी रचनायें शृङ्गारमयी हो गई हैं, इनकी कविता सरल और सरस है—

"प्रेम मगन बिहरैं विपिन राधा नन्दकिशोर।
दोउन के मुख चन्द्र के दोउन नैन चकोर॥"

भारतेंदु जी के पिता गिरिधरदास जी की रचनाएँ भी असंयत शृङ्गारिकता के दोष से निर्मुक्त हैं। इनका रचना काल सं० १८६०-१६१७ है। इनके बनाए अनेक ग्रंथ हैं। नहुष नाटक की रचना भी उन्होंने की है। रामकथामृत, वाल्मीकि रामायण (पद्यानुवाद), अद्भुतरामायण, श्रीरामस्तोत्र, श्रीरामाष्टक आदि की रचना करके इन्होंने अपनी भक्ति भावना की तृप्ति की है। ये राम के बड़े भक्त थे।

बीसवीं शताब्दी में राम-भक्ति का जो पुनरुत्थान हुआ उसमें सबसे ऊंचा स्थान गुप्त जी का ही है। पर मिश्र जी का 'कौशल किशोर' तथा जोतिसी जी का 'राम चंद्रोदय' भी उल्लेखनीय रचनायें हैं। रामकथा का नया विकास द्विवेदीयुग की विशेषता है।

प्रत्येक वस्तु को विश्वव्यापी समष्टि भावना से देखना भी इस बीसवीं शताब्दि की अपनी विशेषता है। हरिऔध की राधा यदि विश्व प्रेम में दीक्षित हैं तो यशोधरा विश्वकल्याण में तत्पर। राम चराचर व्यापी हैं, यह तुलसीदास जी आदि सभी भक्तों का विश्वास है पर इस युग में राम के ईश्वरत्व की भावना में उनके विश्वव्यापित्व पर अधिक ज़ोर दिया गया है। और इस प्रकार राम से प्रेम करना समस्त विश्व से प्रेम करना है। विश्वबंधुत्व की भावना पर बल अधिक दिया गया है। गुप्त जी के शब्दों में आज के राम के स्वरूप की भावना को देखिए—

"राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे॥"

इस प्रकार गुप्त जी के आराध्य राम विश्वव्यापी हैं, ईश्वर हैं और उन्होंने मनुष्य का अवतार लिया है। अलौकिकत्व की कल्पना इस युग में कम होती गई है। धीरे धीरे यह भावना यहाँ तक बढ़ी है कि हरिऔध जी ने अपनी नवीन कृति 'वैदेही-वनवास' में राम का चित्रण मनुष्य मानकर ही किया है। आधुनिक रामकाव्यों पर वर्तमान की छाया स्पष्ट है। गुप्त जी तथा हरिऔध जी पर हम आगे चलकर पृथक् अध्याय में विचार करेंगे।

जोतिसी जी—इनके रामचंद्रोदय की भाषा ब्रज है। जोतिसी जी के प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण उनका पांडित्य उनकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित हुआ है, यही कारण है कि उनकी रचना कुछ क्लिष्ट हो गई है। दूसरी बात है उनका संस्कृत का गहरा ज्ञान संस्कृत के बाद के साहित्य में, जिसका अध्ययन इस समय पांडित्य के लिए आवश्यक समझा जाता है, रीतिकालीन प्रवृत्तियों का बाहुल्य है। यही कारण है कि उन्होंने अलंकार, छन्द, भाषा पर अधिक ध्यान दिया है। अलंकारों की योजना कहीं कहीं पर तो ऐसी भद्दी हो गई है कि सरसता नाम मात्र को भी नहीं रह गई है। इनका ध्यान कलापक्ष की ओर अधिक है। राम-चंद्रोदय, केशव की रामचंद्रिका के ढंग का महाकाव्य है।

बलदेवप्रसाद मिश्र—इनका 'कौशल किशोर' भी एक महा-

काव्य है; उसमें महाकाव्य के सभी लक्षण वर्तमान हैं। सर्गों की नियमित योजना, चन्द्रोदय वर्णन, ऋतु-वर्णन और परम्पराप्राप्त प्रकृति-वर्णन आदि सभी उसमें मिलते हैं। राम की किशोरावस्था का चित्र इसमें खींचा गया है, इसमें जन्म से लेकर राम के युवराज पद पर अधिष्ठित होने तक की कथा का वर्णन है।

पं० रामचरित उपाध्याय—खड़ी बोली जिस काव्य-क्षेत्र में प्रवेश कर रही थी आप उस समय के कवि हैं। आप संस्कृत के पण्डित होने के कारण वाल्मीकि से बहुत प्रभावित हैं, इनके रामचरित-चिंतामणि में भाषा;बड़ी सरल तथा खड़ी बोली के प्रारम्भिक कवि होने के कारण कहीं कहीं पर गद्यात्मक हो गई है।

"हमारा कभी मांस कोई न खाता। किसी के नहीं चाम भी काम आता।
मुझे मार के क्या शिकारी बने हो। दुखारी बने हो, भिखारी बने हो॥"

इनकी कल्पनाएँ भी कहीं कहीं असुन्दर हो गई हैं, जैसे इसी पद में बालि का उत्तर हृदय को स्पर्श नहीं करता, देशभक्त होने के कारण उपाध्याय जी की रामसंवाहिनी कविता भी उनकी इस भावना से अछूती न रह सकी, उनकी उपदेशात्मकता के कारण उनका कवित्व बहुत कुछ अन्तर्हित सा हो गया है। रामचरित-चिंतामणि एक असफल प्रबन्ध-काव्य है। कथाओं के विस्तार और संकोच की अनुपयुक्तता ने इसे अस्वाभाविक बना दिया है।

"मिले परस्पर आत कथा दोनों ने गाई। दोनों में प्रण सहित प्रेम से हुई मिताई।"

इस एक दोहे में ही सुग्रीव मैत्री की सारी कथा कह डाली गई है। इसी प्रकार और भी दोष वर्तमान हैं पर साधारणतया रचना सुन्दर है। उपाध्याय जी की भक्तिभावना की तृप्ति इससे भली प्रकार हो सकी है—इसमें सन्देह नहीं है। कहीं कहीं कुछ प्रसंग सुन्दर बन पड़े हैं, जैसे अंगद-रावण-संवाद—

"कुशल से रहना है यदि तुम्हें, दनुज तो फिर गर्व न कीजिये,
शरण में गिरिये रघुनाथ के, निबल के बल केवल राम हैं।

\+ \+ \+

सुन अरे! यम, इन्द्र, कुबेर की, न हिलती रसना मम सामने,

\+ \+ \+

कुछ नहीं डर है, पर क्यों वृथा, निलज, मानव मान बढ़ा रहे?

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'—निराला जी रहस्यवादी कवियों

में अद्वैतवाद के प्रतिनिधि हैं। उनकी विचार-परम्परा अद्वैतवाद के सिद्धान्तों से मेल खाती है, पर असीम में मिलाकर ससीम जगत का जीव आनन्द का अनुभव कैसे करेगा? स्नेहधारा में, भक्ति के तरल स्रोत में-आनन्दपूर्वक अवगाहन निराला जी का ध्येय है, इस लक्ष्य की पूर्ति अद्वैत भावना में संभव नहीं। हृदयपद्धति के अनुकूल तो भक्ति-मार्ग ही पड़ता है। सुनिये उनके ही शब्दों में—

"बहता हूँ माता के चरणामृत सागर में,
मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे, काफी है।
सुधाधर की कला में अंशु बन कर यदि रहूँ,
तो अधिक आनन्द है।"

इसलिये वे "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" के सिद्धान्तों को मानकर चले हैं। 'सोऽहम्' की भावना उनकी दार्शनिक रचनाओं में ही मिलती है। भक्ति के सरस उद्गारों में तो उनका लक्ष्य यही रहा है—

"आनन्द बन जाना है, श्रेयस्कर आनन्द पाना है।"

उन्हें भगवान की अनन्त करुणा पर विश्वास है—

"एक दिन थम जायगा रोदन, तुम्हारे प्रेम अंचल में।"

निराला जी ने 'पंचवटी प्रसंग' नामक रचना में लक्ष्मण का सुन्दर चित्र खींचा है, सीता के शब्दों में लक्ष्मण के शील-संकोच का वर्णन देखिये—

' कितना सुबोध है।
आज्ञा पालन के सिवा कुछ भी नहीं जानता,
आता है सामने तो झुका सिर, दृष्टि चरणों की ओर रखता है,
कहता है बालक इव क्या आदेश माता।"

लक्ष्मण के हृदय का भोलापन भी देखिये—

"माँ की प्रीति के लिये ही चुनता हूँ सुमन दल,
इसके सिवा कुछ भी नहीं जानता—
जानने की इच्छा भी नहीं है कुछ।"

संस्कृत कोमल कांत पदावली का प्रयोग भी आप करते हैं। भक्ति सम्बन्धी रचनायें आपकी बहुत कम हैं पर नवीन छायावादी कवियों में राम के चरित्र को लेकर आपने ही कुछ लिखने का प्रयास किया है।

इधर आपने गोस्वामी तुलसीदास पर भी पुस्तक लिख डाली है और राम-भक्ति के अग्रदूत गोस्वामी जी का बड़ा ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया है, एक उदाहरण देखिए—

"देशकाल के शर में बिंध कर यह जागा कवि अशेष-छविधर।
इसका स्वर भर भारती मुखर होएँगी, निश्चेतन, निजतन मिला विकल,
छलक शत शत कल्मष के छल बहतीं जो, वे रागिनी सकल सोएँगी।"

गोस्वामी जी की पूत वाणी से हमारी वाग्धारा जितनी पवित्र हुई है उतनी और किसी की वाणी से नहीं।

जिन कवियों का हम ऊपर संक्षेप में उल्लेख कर आए हैं, उनके अतिरिक्त और भी कवियों की रचनाएँ राम के सम्बन्ध में मिलती हैं आगरा के पं० सत्यनारायण जी का लिखा हुआ भवभूति के उत्तररामचरित का अनुवाद विशेष उल्लेख योग्य है। विस्तार भय से सब के सम्बन्ध में यहाँ लिखना असम्भव है।

नवम अध्याय

'गुप्त जी' तथा 'हरिऔध'

श्री मैथिलीशरण गुप्त—इनका जन्म चिरगाँव (झाँसी) के एक वैष्णव वैश्यकुल में हुआ है। इनके स्वर्गीय पिता का नाम सेठ रामचरण था। ये भारतीय सभ्यता के कट्टर पक्षपाती राम के भक्त और परम वैष्णव थे। ये बड़े ही साधु प्रकृति के थे। गुप्त जी में भी अपने पिता के अनुरूप गुण आए हैं। राम की अनन्य उपासना इनका पैतृक गुण है। गुप्त जी की वेश-भूषा, रहन-सहन, आचार-विचार सब कुछ हिन्दू संस्कृति से ओतप्रोत है। इनकी सी सरलता और कवियों में दुर्लभ है। इनके भाई सियारामशरण गुप्त भी अच्छे साहित्यिक हैं। सियारामशरण जी की विशेषता यह है कि उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है। गुप्त जी का क्षेत्र कविता का ही है, यद्यपि उन्होंने भी नाटक लिखे हैं पर उनमें उतने सफल नहीं हो सके हैं। इनके कविता-गुरु महावीरप्रसाद जी द्विवेदी थे। सरस्वती के संपादनकाल में ये गुप्त जी की प्राथमिक रचनाओं को सुधार कर उसमें छापा करते थे

तथा इनको सुधार करने का उचित आदेश भी दिया करते थे। गुप्त जी उन्हीं के बताए मार्ग पर चलकर आगे बढ़े।

रचनाओं की दृष्टि से गुप्त जी की कृतियों की संख्या बहुत काफ़ी है। इन्होंने कई खंडकाव्य तथा कई महाकाव्य एवं नाटक लिखे हैं। 'साकेत' और 'यशोधरा' इनके सब से सफल और जनप्रिय महाकाव्य हैं। खण्डकाव्यों में 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी' और 'रंगभंग' पूर्णतया सफल हुए हैं। इनके अतिरिक्त विकट भट, पलासी का युद्ध, किसान, गुरुकुल और सिद्धराज भी इनके अच्छे काव्य हैं। 'भारत भारती' और 'हिन्दू' में इनकी राष्ट्रीयता बोल पड़ी है, 'अनघ', 'द्वापर', 'तेगबहादुर', 'तिलोत्तमा', 'चंद्रहास', 'शकुन्तला', 'सैरन्ध्री', वकसंहार' और 'वन वैभव' अच्छी रचनायें हैं। शुद्ध काव्य की दृष्टि से ये काव्य उतने उत्कृष्ट नहीं बन सके हैं। मेघनाद-वध और उमर खैय्याम की रुबाइयों का अनुवाद भी बड़ा सुन्दर है, वैतालिक के गीत बड़े सुन्दर हुए हैं। 'मंगलघट' और 'झंकार' नाम से इनके दो संग्रह-ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं। पहले में इनकी प्राचीन धारा की कविताएं हैं तो दूसरे में छायावाद के नाम से कहे जाने वाले रहस्यात्मक गीतों का सुन्दर संकलन है। गुप्त जी की सब से बड़ी विशेषता है नवीन के प्रति आकर्षण और प्राचीन के प्रति मोह। समन्वय उनकी कला है, शिव उनका ध्येय; वे आधुनिक युग के प्रतिनिधि कवि हैं, वे सर्वश्रेष्ठ हिन्दू कलाकार हैं।

अपने युग के प्रतिनिधि कवि ही महाकवि कहे जाते हैं। वे अपने राष्ट्र की आशा, आकांक्षा और चिन्ताओं का मूर्त प्रतीक होते हैं और मनोरम भविष्य के अग्रदूत। वे केवल भूत के गीत ही नहीं गाते वे कुछ संदेश भी देते हैं। मैथिलीशरण गुप्त इस अर्थ में महाकवि हैं। उनके काव्य-जीवन का प्रारम्भ ही अपने समय की अभिलाषाओं और चिंताओं को व्यक्त करने से हुआ है। गुप्त जी में राष्ट्रीयता की भावना उस समय के राष्ट्रीय आंदोलन की देन थी; उन्होंने अपने अतीत की ओर दृष्टि डाली। अतीत के गौरवशृङ्ग तुषारावृत थे—कवि की आत्मा गौरवमय अतीत के लिए रो पड़ी—

"हम कौन थे क्या हो गये और क्या होंगे अभी।"

अपने समय की हीन दशा को देख उनकी अंतरात्मा व्यथित हो उठी। गुप्त जी निराशावादी नहीं हैं, उन्हें आशा है कि हम अपने

अतीत के दर्शन कर भविष्य को वैसा ही बना सकेंगे। इसीलिए वे हमारे सामने खंडहरों से लाकर चित्र सजाया करते हैं। उन्हें मनुष्य की कल्याण-बुद्धि पर विश्वास है।

"मैं मनुष्यता को सुरत्व की, जननी भी कह सकता हूँ।"

उन्होंने राष्ट्रवासियों को संदेश भी दिया है, देखिये प्राचीन बल-वैभव को भूले हुए क्षत्रियों के प्रति वे क्या कहते हैं—

"क्षत्रिय! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो।"

गुप्त जी की मानसिक पृष्ठ-भूमि में राष्ट्रीयता का स्वर सब से ऊँचा है।

पहले कहा जा चुका है कि विश्वव्यापी दृष्टिकोण आज की विशेषता है, यह व्यापक दृष्टि गुप्त जी को माइकेल मधुसूदन दत्त तथा महाकवि रवींद्र के अध्ययन के बाद मिली। गुप्त जी के अनघ, भरत और यशोधरा विश्वबन्धुत्व के प्रतीक हैं। मांडवी ने भरत से कहा है—

"मेरे नाथ जहाँ तुम होते, दासी वहीं सुखी होती,
किन्तु विश्व की मातृभावना यहाँ निराश्रित ही होती।
रह जाता नरलोक अबुध ही, ऐसे उन्नत भावों से,
घर घर स्वर्ग उतर सकता है प्रिय, जिनके प्रस्तावों से।"

गुप्त जी का विश्वप्रेम घर घर में सदाचार और उन्नत भावों का प्रतिष्ठापक है। गुप्त जी प्राचीन विचारों को केवल इसीलिए हेय दृष्टि से नहीं देखते कि वे प्राचीन विचार हैं। वे प्राचीनता के पक्षपाती हैं पर अन्ध पक्षपाती नहीं। नवीनता से भी उन्हें विरोध नहीं है पर प्रतिक्रिया को वे बुरा समझते हैं। यही कारण है कि उनकी राष्ट्रीयता तथा विश्वबन्धुता में प्राचीनता तथा नवीनता का मधुर और विवेकपूर्ण समन्वय रहता है। गुप्त जी ने प्राचीन को नवीन दृष्टि से देखा है।

वास्तव में वे भारतीय संस्कृति के कवि हैं, भारतीय से हम प्राचीन हिन्दू अथवा आर्य संस्कृति का अर्थ लेते हैं। गुप्त जी की प्रत्येक रचना भारतीय जीवन के बीच प्राचीन आर्य संस्कृति के दर्शन कराती है। साकेत जीवन-काव्य है, हिन्दू जीवन का आदर्श, राम का चरित्र उसका विषय है। अनार्य सभ्यता ने आर्य सभ्यता

को अभिभूत कर रखा था। राम का अवतार धर्म की स्थापना के लिए होता है—

"सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया। इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

राक्षसराज रावण ने हिन्दू धर्म का नामशेष कर दिया था। उसने भारतलक्ष्मी सीता का हरण कर उसे लंका में ले जा रखा था—

"भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में,
सिंधु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।
बैठा हूँ मैं भण्ड साधुता धारण कर के,
अपने मिथ्या भरत नाम को नाम न धर के।"

इस प्रकार गुप्त जी ने राम-रावण युद्ध को आर्य और अनार्य सभ्यता का संघर्ष मान लिया है और राम की विजय में आर्य-संस्कृति की विजय दिखाकर कवि ने सर्वत्र आनन्दोल्लास का वर्णन किया है—

"जय जयकार किया मुनियों ने, दस्युराज यों ध्वस्त हुआ।
आर्य सभ्यता हुई प्रतिष्ठित, आर्य धर्म आश्वस्त हुआ।
होते हैं निर्विघ्न यज्ञ अब जप-समाधि तप-पूजा पाठ।
यश गाती हैं मुनि-कन्याएँ कर व्रत पर्वोत्सव के ठाठ।"

गुप्त जी की सांस्कृतिक धारणा से इनकी रचनाएँ अनुप्राणित हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि गुप्त जी के पिता परम वैष्णव और राम के अनन्य उपासक थे। पिता से प्रभावित होने के कारण राम की ओर आकर्षण उनका जन्म से ही था। बाद में तुलसीदास के निरन्तर अध्ययन से उनकी भावना दृढ़ होती गई। इनमें धार्मिक कट्टरता का लेशमात्र भी नहीं है, भक्ति के उदार वातावरण में इनकी मनःशक्तियाँ सुदृढ़ हुई हैं। राम के सम्बन्ध में इनकी क्या धारणा है यह हम पिछले अध्याय में कह आए हैं। राम के चरित का गान करना सरल नहीं है; वह इस लिए नहीं कि राम के चरित्र में कुछ रहस्य है जो कविता का विषय नहीं बन सकता और न यही बात है कि राम के चरित्र में वह काव्यमयता नहीं है जो काव्य के लिए उपयोगी हुआ करती है, अपितु बात यह है कि तुलसीदास जी ने राम-काव्य को जिस पूर्णता पर पहुँचा दिया है उससे आगे आना साधारण कवि का काम नहीं।

गुप्त जी के काव्य-गुरु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी जैसे विचारक थे वैसे ही भावुक और सूक्ष्म-दृष्टि-संपन्न ! उनकी सूक्ष्म अंतर्दृष्टि काव्य की उपेक्षिताओं पर पड़ी। उर्मिला के संबन्ध में जो उदासीनता वाल्मीकि और तुलसीदास ने स्वीकार की है वह उन्हें अखरी। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी दोनों महाकवियों के इस 'अक्षम्य' अपराध पर कुछ पंक्तियाँ लिखीं, यहीं से गुप्त जी को अपने उर्मिला-संबन्धी काव्य के लिये प्रेरणा मिली। राम का चरित्र इतनी पूर्णता के साथ गाया जा चुका था कि आगे उसमें स्वर भरना असंभव था। इस प्रेरणा के मिलने से उनकी दृष्टि उन पात्रों पर पड़ी जिनका अभी कुछ विकास संभव था। पंचवटी में लक्ष्मण के कठोर कर्म-निष्ठ चरित्र में भावुकता का पुट देकर उसे श्रद्धेय के साथ प्रिय भी बना दिया। श्रेय और प्रेय का समन्वय गुप्त जी की कला है। उर्मिला के चरित्र में तो उन्होंने बहुत ही रंग भरा है। कैकेयी के चरित्र का विकास भी इन्होंने किया। उर्मिला के साथ राम का आना अनिवार्य ही था और इस प्रकार अपनी भावनाओं को राम के चरणों में अर्पित करने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ।

राम का जीवन आदर्श गृहस्थ का था। गुप्त जी का पारिवारिक जीवन भी बड़ा ही सुखद तथा मर्यादित है, इसलिये राम गुणगान के साथ उन्होंने आदर्श गृहस्थ का चित्र खींचा है। पिता-पुत्र भाई-भाई, पति-पत्नी, सास और बहू का परस्पर क्या सम्बन्ध होना चाहिये इसका कितना सुन्दर चित्र गुप्त जी ने सामने रखा है यह हम साकेत की विवेचना करते हुए स्पष्ट करेंगे। साकेत एक जीवन-काव्य है।

पंचवटी—पंचवटी में गुप्त जी ने एक आदर्श वन्य गृहस्थ का उल्लास पूर्ण चित्र खींचा है। इस छोटे से परिवार में तीन व्यक्ति हैं—शूर्पणखा आकर उस परिवार को अशांत कर देती है, पर यह परिवार उल्लास और आनंद की उमंग में किस प्रकार उस राक्षस रमणी से व्यवहार करता है यह देखने की बात है। गोस्वामी तुलसी-दास जी ने पंचवटी का इतना सरस और सजीव वर्णन नहीं किया है। गुप्त जी की पंचवटी कुछ भिन्न है, 'पंचवटी' में लक्ष्मण बहुत ऊँचे उठ गये हैं—

"पंचवटी की छाया में है सुन्दर पर्ण कुटीर बना।
उसके सन्मुख स्वच्छ शिला पर धीर वीर निर्भीक मना।

जाग रहा यह कौन धनुर्धर जब कि भुवन भर सोता है!
योगी कुसुमायुध योगी-सा बना दृष्टिगत होता है॥"

वह क्यों इस प्रकार कुटी के द्वार पर अखण्ड ध्यान में मग्न योगी-सा बैठा है—

"बना हुआ है प्रहरी जिसका, उस कुटीर में क्या धन है?"

उस कुटीर में तीन लोक की लक्ष्मी (भारतलक्ष्मी) विराजमान है, उसी की रक्षा में वह वीर व्रती तपोमग्न-सा बैठा है—

"विजन देश है निशा शेष है, निशाचरी माया ठहरी।"

गुप्त जी के लक्ष्मण में मानव हृदय की कोमल अनुभूति है, पर गोस्वामी जी के लक्ष्मण कठोर कर्मनिष्ठ हैं। गुप्त जी के लक्ष्मण एकांत निशा में उर्मिला की सुध करते हैं—

"बेचारी उर्मिला हमारे लिये व्यर्थ रोती होगी,
क्या जाने वह वन में हम सब होंगे इतने सुख-भोगी।"

लक्ष्मण का स्नेहासक्त हृदय विरह की तरल स्मृति से एक बार स्तब्ध हो उठा—

"मग्न हुए सौमित्र चित्र-सम नेत्र निमीलित एक निमेष।"

गुप्त जी के लक्ष्मण ने कोमल मानव हृदय पाया है पर मानव हृदय की दुर्बलता उनमें नहीं है। वह कठोर संन्यासी अपनी तपस्या से विचलित नहीं होता। पंचवटी में उसकी परीक्षा का अवसर है, गोस्वामी जी ने शूर्पणखा को पहले राम से प्रणय भिक्षा मँगवा कर लक्ष्मण के महत्व की प्रतिष्ठा का अवसर दिया है। गुप्त जी ने इस अवसर पर कथानक में परिवर्तन कर लक्ष्मण चरित्र को और भी आकर्षक बना दिया है। ध्यानस्थ लक्ष्मण आँखें खोलने पर एक अलौकिक नारी का रूप देखते हैं—

"चकाचौंध-सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला।
निःसंकोच खड़ी थी सम्मुख, एक हास्यवदनी बाला।"

वह बाला कैसी आकर्षक मुद्रा में खड़ी थी—

"कटि के नीचे चिकुर-जाल में उलझ रहा था बायाँ हाथ,
खेल रहा हो ज्यों लहरों से लोल कमल भौंरों के साथ।
दायाँ हाथ लिए था सुरभित—चित्र-विचित्र-सुमन-माला,
टांगा धनुष कि कल्पलता पर मनसिज ने झूला डाला!"

'ढलती रात में अकेली अबला' की प्रणय याचना से भी यह

युवा संन्यासी मनसिज से दोलायमान न हुआ। विस्मय विमुग्ध लक्ष्मण ने पूछा—

"तुम्हीं बताओ कि तुम कौन हो हे रंजित रहस्य वाली ?"
"केवल इतना कि तुम कौन हो" बोली वह "हा निष्ठुर कान्त"
यह भी नहीं—"चाहती हो क्या ?" कैसे हो मेरा मन शान्त ?

अदम्य वासना भरी रमणी की अशांत वाणी से लक्ष्मण का मन तनिक भी विचलित न हुआ।

"पाप शान्त हो, पाप शान्त हो, कि मैं विवाहित हूँ बाले !"

प्रणय याचना का तिरस्कार नारी का सब से बड़ा अपमान है। कोमल नारी-हृदय प्रतिशोध की भावना से वज्र-सा कठोर और काल के समान क्रूर हो जाता है। वासना से उसका हृदय विचलित हो उठा था, लक्ष्मण का उपदेश—

"पवनाधीन पताका-सी यों जिधर तिधर मत फहरो तुम।"

उसे कुछ भी प्रभावित न कर सका। लज्जाविहीन नारी प्रणय की करुण याचना कर रही थी—

'रात बीतने पर है अब तो मीठे बोल बोल दो तुम।'

लक्ष्मण फिर हिमालय के समान अचल और समुद्र के समान गम्भीर थे।

"हाँ नारी ! किस भ्रम में है तू, प्रेम नहीं यह तो है मोह,
आत्मा का विश्वास नहीं यह है तेरे मन का विद्रोह ?"

लक्ष्मण शूर्पणखा-संवाद की इस रूप में कल्पना करके गुप्त जी ने रंभा-शुक-संवाद की पुनरावृत्ति सी कर दी है।

"कब से चलता है बोलो यह नूतन शुक-रंभा-संवाद ?"

सीता और राम की हास्यप्रियता ने लक्ष्मण के चरित्रविकास में और भी योग दिया। उद्दाम यौवन से उद्भ्रान्त रमणी राम से ही बोल पड़ी,

"पहनो कान्त, तुम्हीं यह मेरी जयमाला-सी वरमाला।"

\+ + +

"मुसकाई मिथिलेशनन्दिनी प्रथम देवरानी, फिर सौत !"

\+ + +

"रामानुज ने कहा कि भाभी, है यह बात अलीक नहीं—
औरों के झगड़े में पड़ना कभी किसी को ठीक नहीं।"

राम की सलाह से वह रमणी फिर लक्ष्मण की ओर उन्मुख होती है। पर—

बोले वे—"बस, मौन कि मेरे लिए हो चुकी मान्या तुम;
यों अनुरक्ता हुईं आर्य पर जब अन्यान्य वदान्या तुम।"

दोनों ओर से तिरस्कृत होने पर वह रमणी प्रतिशोध की ज्वाला से तड़प उठी—

"नहीं जानते तुम कि देखकर निष्फल अपना प्रेमाचार,
होती हैं अबलाएँ कितनी प्रबलाएं अपमान विचार!"

\+ \+ \+

"वह अति रम्य रूप पल भर में। सहसा बना विकट विकराल॥"

किस तेजी से उसमें परिवर्तन हुआ और वह कितना भयंकर था यह कवि के शब्दों में देखिये—

"सबने मृदु मारुत का दारुण झंझा-नर्तन देखा था,
संध्या के उपरान्त तमी का विकृतावर्तन देखा था,
काल-कीट कृत वयस कुसुम का क्रम से कर्तन देखा था,
किन्तु किसी ने अकस्मात् कब यह परिवर्तन देखा था।"

उसकी भयंकर आकृति को देख सीता भय-त्रस्त और विस्मयविमूढ़ हो गयी, सीता को भयव्याकुल देख लक्ष्मण की कर्तव्य बुद्धि ने प्रेरणा की—

'कि तू न फिर छल सके किसी को, मारूँ तो क्या नारी जान,
विकलांगी ही तुझे करूँगा, जिससे छिप न सके पहचान॥
उस आक्रमणकारिणी के झट लेकर शोणित तीक्ष्ण कृपाण,
नाक-कान काटे लक्ष्मण ने, लिये न उसके पापी प्राण।"

स्वैरिणी के लिये यही दण्ड उचित था, सहनशील लक्ष्मण के सम्बन्ध में स्वयं राम ने कहा है—

"कोई सह न सकेगा, जितना तुमने मेरे लिये सहा।"

लक्ष्मण एकांत कर्मयोगी हैं, कर्म का सौन्दर्य उनको प्रेरणा देता है कर्म का फल नहीं। अपने प्रेम का प्रतिदान वे नहीं चाहते।

"आर्य तुम्हारे इस किंकर को कठिन नहीं कुछ भी सहना,
असहनशील बना देता है किन्तु तुम्हारा यह कहना।"

राम मर्यादा और धर्म के प्रतीक थे तो लक्ष्मण कर्तव्य और पौरुष के अवतार। तुलसीदास जी के लक्ष्मण भी पुरुषार्थ में विश्वास

रखते थे—समुद्र ने राम की प्रार्थना पर ध्यान न दिया, तब—

"अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥"

उनका विचार था कि 'दैव दैव आलसी पुकारा'। विधि के विधान में उन्हें विश्वास न था। लक्ष्मण का पुरुष अदृष्ट से नहीं डरता—

"मैं पुरुषार्थ पक्षपाती हूँ। इसको सभी जानते हैं।"

पंचवटी का छोटा सा सुखी परिवार लक्ष्मण के इस आत्म-विश्रम्भ पर आनंद से विभोर हो उठा। वह क्षुब्ध वातावरण सहसा विलीन हो गया—

"यह कह कर लक्ष्मण मुसकाये, रामचंद्र भी मुसकाये;
सीता मुसकाईं, विनोद के पुनः प्रमोद भाव छाये।
"रहो रहो, पुरुषार्थ यही है—पत्नी तक न साथ लाये;"
कहते कहते बैदेही के नेत्र प्रेम से भर आये।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त जी ने नवीन दृष्टिकोण से रामकथा के भिन्न भिन्न अंगों को देखा है। उनके चरित्र आदर्श हैं पर मानवता को छोड़कर नहीं। मानवोपरि चरित्र उन्हें प्रिय नहीं है। वे मनुष्य को ही देवता बना देना चाहते हैं। उनके लक्ष्मण इस बात के प्रमाण हैं। हम पहले कह चुके हैं कि वे निराशावादी कवि नहीं हैं। वर्तमान की करुणा का प्रभाव उन पर पूरा पूरा है पर आशा की दिव्य ज्योति का प्रकाश उन्हें सदैव मिला करता है। जीवन को दुःखमय चित्रित करते हुए भी वे उसमें एक उल्लास की-आनंद की शुभ योत्स्ना की सृष्टि कर देते हैं। करुणा की प्रतीक उर्मिला भी जीवन से निराश नहीं हैं। उसे जीवन की अभिलाषा है, उत्कण्ठा है। निराशा के घोर अंधकार में आशा की किरण आलोकित हो रही है—

"कोक, शोक मत कर हे तात,
कोकि, कष्ट में हूँ मैं भी तो, सुन तू मेरी बात।
धीरज धर अवसर आने दे, सह ले यह उत्पात,
मेरा सुप्रभात वह तेरी सुख सुहाग की रात।"

यही बात पंचवटी में भी मिलती है। रामसीता वन में हैं, राज्य से वंचित और स्वदेश से बहिष्कृत! पर गुप्त जी ने उनके इस वन्य जीवन में भी आनन्द की सृष्टि की है, सीता का परिहास कैसा निर्मल और मधुर है—

"देवर, तुम कैसे निर्दय हो, घर आये जन का अपमान !
किसके पर-नर तुम, उसके जो चाहे तुम को प्राण समान ?"

सीता ने कैसी मीठी चुटकी ली है !

"इन बातों में क्या रक्खा है हे भाभी,
इस विनोद में नहीं दीखती मुझे मोद की आभा भी ॥"
"तो क्या मैं बिनोद करती हूँ !"

इस सफेद झूठ में कितना माधुर्य है, कितना मोद है, कितनी सरलता है !

पंचवटी में आकर गुप्त जी में एक और परिवर्तन स्पष्ट परिलक्षित होता है, इनकी राष्ट्रीयता की भावना काव्य-क्षेत्र से विलुप्त होती दिखाई देती है। विशुद्ध काव्य का सृजन ही साहित्य की स्थायी संपत्ति होता है। गुप्त जी भारतीय से कवि हो गए हैं। मनुष्य मात्र में तरंगित होने वाले चिरकालिक भावों को स्पर्श करने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। प्रकृति की ओर भी उनका आकर्षण हुआ है। वे प्रकृति के व्यापारों में मानव भावनाओं का आरोप करते हुए दिखाई दिये हैं।

सृष्टि के आरम्भ से मनुष्य पशु पक्षियों तथा प्रकृति के साथ आत्मीयता का अनुभव करता आया है और वे भी मनुष्य के साथ हिल मिल सके हैं। गुप्त जी का ध्यान पंचवटी में इस ओर गया है—

"वे पशु पक्षी भाभी से हैं हिले यहाँ स्वयमपि सानन्द।"

यही नहीं वे पशु पक्षी छोटे बालकों की भाँति सीता को खिझाया भी करते थे—

"आ आ कर विचित्र पशु पक्षी यहाँ बिताते दोपहरी।
भाभी भोजन देतीं उनको, पंचवटी छाया गहरी ॥
चारु चपल बालक ज्यों मिलकर माँ को घेर खिझाते हैं ॥
खेल खिझा कर भी आर्या को, वे सब यहाँ रिझाते हैं ॥"

'पंचवटी' से पहले की रचनाओं में 'भारत भारती', 'जयद्रथ वध' और 'अनघ' विशेष उल्लेख योग्य हैं। इन तीनों में गुप्त जी का कवि-हृदय गंभीर चिन्तनशीलता और राष्ट्रीयता से ओतप्रोत है। उनमें कवित्व का स्वच्छन्द-विकास विचार-गरिमा से बोझिल हो गया है। पंचवटी में प्रकृति के मधुरतम दृश्यों से कवि की

कल्पना तरंगित हुई है। नीरव निशीथ में शुभ्र ज्योत्स्नाजाल से आवृत पंचवटी कितनी मनोरम प्रतीत होती है—

"चारु च द्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल थल में।
स्वच्छ चादनी बिछी हुई है, अवनि और अम्बर तल में।
पुलक प्रकट करती है धरती, हरित तृणों की नोकों से।
मानों झूम रहे हैं तरु भी, मन्द पवन के झोंकों से।"

\+ \+ \+

"है बिखेर देती वसुन्धरा मोती सबके सोने पर
रवि बटोर लेता है सबको सदा सबेरा होने पर।"

स्वच्छ नील नभ में बिखरे हुए तारे मोती से प्रतीत होते हैं। तारक-मौक्तिक की कल्पना गुप्त जी को बहुत प्रिय है। 'साकेत' में प्रभात का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है—

सखि नील नभसर में उतरा, यह हंस अहा तरता तरता।
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता चरता॥

साकेत—साकेत एक प्रबंध काव्य है। किसी कवि की कला का चरम उत्कर्ष प्रबंध रचना में ही दीख पड़ता है। स्फुट रचनाएँ तो अनुभूति के विरल क्षणों में भी हो जाया करती हैं पर प्रबन्ध रचना के लिए कवि का अपूर्व कौशल और अनुभूति दोनों ही आवश्यक हुआ करते हैं। अपने प्रवन्ध के लिए कौन से चरित्र उपयोगी हैं इसका चुनाव उसकी सफलता का मूल कारण है। दूसरी बात मार्मिक स्थलों के चुनाव तथा अनावश्यक स्थलों के बहिष्कार की है। तीसरी बात जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि मुख्य पात्र के चारों ओर कथा का विस्तार हो; सारे पात्र और सारी ही घटनाएँ उससे संबद्ध हों, उसके चरित्र पर कुछ प्रभाव रखती हों। इनके अतिरिक्त भी बहुत सी बातें प्रबन्ध-काव्य या महा-काव्य के लिए आवश्यक हैं। जैसे नायक का उच्च होना, पूरे महाकाव्य में दस से अधिक सर्गों का होना, प्रायः सभी रसों का मुख्य रस का उपकारक बन कर आना तथा प्रकृति और ऋतुओं का वर्णन आदि। इसके अतिरिक्त अलंकारों का उचित प्रयोग, भाषा की सरलता, विषयानुकूल और गतिशील योजना, छंदों का विषयानुसार बदलना तथा आवश्यक चित्र विधान आदि काव्य के उत्कर्ष के लिए आवश्यक माने गए हैं। साकेत में हम सभी बातें पाते हैं।

मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत में उन्हीं परिचित चरित्रों को लिया है जिनके प्रति उनके पाठकों की पूरी श्रद्धा और सहानुभूति है। उर्मिला का चुनाव अवश्य नया है परन्तु उसके लिये सहानुभूति सृजन करने के लिये उन्हें प्रयास नहीं करना पड़ा। उपेक्षित होने पर भी वह तपस्वी लक्ष्मण की भार्या है और सीता की बहन। लक्ष्मण और उर्मिला का संवाद, भरत और माण्डवी का वार्तालाप, चित्रकूट में उर्मिला का आना और लक्ष्मण से साक्षात्कार, अयोध्या के नागरिकों की लंका की चढ़ाई के लिये सज्जित होना आदि कई ऐसी घटनाएँ हैं जिनका वर्णन बड़ी मार्मिकता और मनोवैज्ञानिकता से हुआ है। आवश्यकतानुसार उन्होंने बहुत सी घटनाओं को बहिष्कृत या बहुत संक्षिप्त कर दिया है जैसे अंगद-रावण-संवाद और लंका-दहन आदि। साकेत की सारी कथा का विस्तार उर्मिला के चारों ओर ही हुआ है। सारी कथा उसके चरित्र के विकास में सहायक है। जिन घटनाओं का सीधा संबंध उर्मिला से नहीं, उनकी सूचना भी उर्मिला की उपस्थिति में ही दी गई है जैसे हनुमान् के द्वारा सीताहरण और युद्ध की वार्ता। उर्मिला अयोध्या में ही रहती है और इसी कारण ग्रंथ का साकेत नाम रक्खा गया। चित्रकूट में उर्मिला गई अवश्य थी पर वहाँ भी साकेत का सारा समाज उपस्थित था—

"सम्प्रति साकेत समाज वहीं है सारा ॥"

साकेत बारह सर्गों में लिखा एक महाकाव्य है। लक्ष्मण इसके नायक हैं। वे धीरोदात्तगुण-संपन्न हैं। काव्य की नायिका है-कवियों की उपेक्षिता और चिरविरहिणी उर्मिला। लक्ष्मण अपनी साधना के लिए गए हैं; उर्मिला उनकी सहधर्मिणी है वह उनके मार्ग की बाधक कैसे बनती—

"करना न सोच मेरा इससे, व्रत में कुछ विघ्न पड़े जिससे।"

वह घर में सास-ससुर की सेवा करेगी—सुनिए सीता के शब्दों में—

सास-ससुर की स्नेह-लता-बहिन उर्मिला महाव्रता,
सिद्ध करेगी वही यहाँ। जो मैं भी कर सकी कहाँ।

वास्तव में सीता से वह अधिक कर्तव्यशील है, पूज्य है, प्रिय है। सीता से भी कठिन उसकी परीक्षा है—

"आज भाग्य जो है मेरा, वह भी हुआ न हा! तेरा।"

उर्मिला को इसकी चिंता नहीं। विघ्न-बाधाएँ, वेदनाएँ उसके लिये शूल बन कर आयी हैं पर वे फूल बन कर रहेंगी, उसे प्रिय स्नेह का गर्व है—वह स्नेह से लक्ष्मण में एकाकार हो चुकी थी उसके लिए विरह कैसा—

"किन्तु जहाँ है मनोनियोग, वहाँ कहाँ का विरह वियोग।"

उसने केवल प्रेम करना सीखा है ? प्रेम का प्रतिदान वह नहीं चाहती—

'आराध्य युग्म के सोने पर, निस्तब्ध निशा के होने पर,
तुम याद करोगे मुझे कभी, तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।'

विरह जन्म अवसाद संतोष में परिणत हो गया है। गुप्त जी की नायिका का हृदय कितना कोमल, कितना उच्च है! एक दृश्य और देखिये—

"जाकर परन्तु जो वहाँ उन्होंने देखा, तो दीख पड़ी कोणस्थ उर्मिला रेखा।
यह काया है या शेष उसी की छाया, क्षण भर उनकी कुछ नहीं समझ में आया।"

विरह से कातर एवं कृशशरीर उर्मिला को देख लक्ष्मण स्तब्ध रह गए। उर्मिला ने उन्हें अपने संयम से अभयदान देते हुए कहा—

"मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी, मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी।
गिर पड़े दौड़ सौमित्रि प्रिया-पदतल में, वह भींग उठी प्रिय-चरण धरे दृग-जल में।"

आदर्श नारी की कैसी उदात्त कल्पना गुप्त जी ने की है।

साकेत में करुणरस ही प्रधान है। शृङ्गार उसका उपकारक बन कर ही प्रायः आया है। प्रथम सर्ग में ही उर्मिला और लक्ष्मण का जो आह्लादमय शृङ्गार का वर्णन मिलता है वह भविष्य में आने वाली आपदा को और भी करुणा-जनक बना देता है—

"और भी तुमने किया कुछ है कभी,
या कि सुग्गे ही पढ़ाए हैं अभी ?"
"बस तुम्हें पाकर अभी सीखा यही !"

आह्लाद की यह स्मृति विरह के दिनों में बड़ी कष्टदायक हुआ करती है,

"कह विहग, कहाँ हैं आज आचार्य तेरे ?
विकल वदन वाले वे कृती कांत मेरे ?

सचमुच 'मृगया में ?' तो अहेरी नये वे,
यह हत हरिणी क्यों छोड़ यों ही गये वे ?"

प्रिया के बिना सब ओर सूना लगता है उनकी उपस्थिति सब ओर आनन्द की सृष्टि कर देगी।

"हे ऋतुवर्य, क्षमा कर मुझको, देख दैन्य यह मेरा,
करता रह प्रति वर्ष यहां तू फिर फिर अपना फेरा।
व्याज-सहित ऋण भर दूँगी मैं, आने दे उनको हे सीत,
आया यह हेमन्त दयाकर देख हमें सन्तप्त-सभीत।"

हास्य रस का वर्णन भी बड़ा सुन्दर हुआ है।

"तदपि तुम—यह कीर क्या कहने चला ?
कह अरे, क्या चाहिये तुझको भला ?"
"जनकपुर की राज-कुंज विहारिका,
एक सुकुमारी सलोनी सारिका"
देख निज शिक्षा सफल लक्ष्मण हँसे"

वीररस का स्थायी भाव उत्साह है, उसकी व्यंजना यहाँ अच्छी हुई है—

"आ रे, आ, जा रे, जा, !' कह कह भिड़ते हैं जन जन के साथ,
घन घन, झन झन, सन सन निस्वन होता है हन हन के साथ।"

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है-क्रोध के कारण लक्ष्मण की रौद्र मूर्ति देखें—

"गई लग आग-सी सौमित्रि भड़के,
अधर फड़के, पुलक-घन तुल्य तड़के !
अरे मातृत्व तू अब भी जताती ?
ठसक किस को भरत की है बताती ?
भरत को मार डालूँ और तुझको,
नरक में भी न रक्खूँ ठौर तुझको !"

यह क्रोध का आवेश जिसका कारण राम के प्रति लक्ष्मण का अनन्य अनुराग है, लक्ष्मण की दुर्बलता नहीं, उनका कलंक नहीं। इसी से इन्हें धीरोद्धत नायक भी कहा गया है।

गुप्त जी का 'पंचवटी' में प्रकृति के प्रति बढ़ता हुआ जो अनुराग दिखाई देता है वह साकेत में आकर और भी दृढ़ हो गया है। हिन्दी काव्यक्षेत्र में प्रकृति वर्णन का अर्थ प्राकृतिक वस्तुओं

अथवा दृश्यों का परिगणन मात्र हो गया था। मध्यकाल के कवियों के प्रकृति वर्णन में प्रकृति की सजीवता और सरसता निष्प्रभ हो गई थी। संस्कृत साहित्य में प्रकृति के नाना व्यापारों का मार्मिक चित्रण किया गया है। गुप्त जी ने भी प्रकृति के इस स्वरूप को अपनाया है गुप्त जी ने अपनी रचना में प्रकृति का तीन प्रकार से प्रयोग किया है—शुद्ध प्रकृति का वर्णन, प्रकृति का अलंकारों में प्रयोग और पात्रों की भावनाओं से प्रतिबिम्बित वर्णन।

शुद्ध प्रकृति का वर्णन गुप्त जी ने अपेक्षाकृत कम किया है, पर जितना भी किया है वह अपूर्व है। नदी की चंचल और रजत-मयी तरंगों पर आकाश के तारे प्रतिबिम्बित होकर कैसा सुंदर दृश्य उपस्थित कर रहे हैं—

"सखि निरख नदी की धारा।
ढलमल ढलमल चंचल अंचल झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अन्तस्तल भर के उछल उछल कर छल छल करके
थल थल तरके कल कल भरके बिखराता है पारा।"

शब्दों की भावानुकूल ध्वनि से चित्र और भी सजीव हो उठा है। प्रकृति उन्हें प्रिय है। सारी प्रकृति उस प्रियतम की ज्योति से प्रकाशित हो रही है। उर्मिला के शब्दों में देखिये—

"प्रकृति प्रिय की स्मृतिमूर्ति है जड़ित चेतन की त्रुटिपूर्ति है"

अलंकारों के रूप में प्रकृति का परंपराप्राप्त वर्णन भी गुप्त जी ने अधिक किया है। इसी बात को देखकर कुछ आलोचकों ने उनकी कविता को आधुनिकता के आवरण में रीतिकालीन कविता कहा है। शरद ऋतु के वर्णन में परम्परा प्राप्त उपमानों को कुछ नवीन उद्भावनाओं के साथ बड़े ही सुन्दर ढंग से उपस्थित किया गया है—

"निरख सखि ये खंजन आये!
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये।
फैला उनके तनका आतप मन ने सर सरसाये।
घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये।
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये।
फूल उठे हैं कमल, अधर से ये बन्धूक सुहाये।

स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये।
नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाये।"

उर्मिला का वर्णन करते हुए कवि ने प्राकृतिक उपमान को लेकर उसकी सुन्दरता का चित्र खींचा है—

"अरुण पट पहने हुए आह्लाद में, कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में ?
प्रकट मूर्तिमती उषा ही तो नहीं ? काँति की किरणें उजेला कर रहीं।"

\+ \+ \+

घन पटल से केश कांत कपोल हैं।
देखती है जब जिधर यह सुन्दरी, दमकती है दामिनी सी द्युति भरी।"

वर्षा ऋतु में मरकत श्यामल घास पर पड़ी हुई लाल लाल इन्द्रवधुओं का अपह्नुति में कवि ने कैसा सुन्दर प्रयोग किया है ! इन्द्रवधू शब्द के श्लिष्ट होने से और भी चमत्कार आ गया है—

"इन्द्रवधू आने लगी क्यों निज स्वर्ग विहाय ?
नन्हीं दूर्वा का हृदय निकल पड़ा है हाय !"

पात्रों के मनोभावों से प्रतिबिम्बित प्रकृति के चित्र गुप्त जी ने अधिक खींचे हैं, वर्षा का वर्णन देखिये—

"कुलिश किसी पर कड़क रहे हैं, आली तोयद तड़क रहे हैं।
कुछ कहने के लिये लता के, अरुण अधर वे फड़क रहे हैं।"

ऋतुओं का वर्णन भी गुप्त जी ने प्रायः इसी रूप में किया है। कष्ट में सभी अपने हो जाते हैं। उर्मिला शिशिर को अपना बना लेना चाहती है—

"शिशिर, न फिर गिरि वन में,
जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में,
कितना कम्पन तुझे चाहिये, ले मेरे इस तन में,
सखी कह रही, पाण्डुरता का क्या अभाव आनन में ?"

सारी प्रकृति में उसकी वेदनाएं व्याप्त हैं—

"मेरी ही पृथिवी का पानी,
ले लेकर वह अंतरिक्ष सखि, आज बना है रानी।
मेरी ही धरती का धूम, बना आज आली घन घूम।
गरज रहा गज-सा झुकझूम, ढाल रहा मद मानी।
मेरी ही पृथिवी का पानी।"

प्रकृति ने उससे ऋण लिया है। दूसरों के कर्ज से दबी हुई

प्रकृति मद से फूल उठी है। ओछे मनुष्यों की यही दशा होती है। उर्मिला इस बात से बड़ी व्यथित है—

"मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन, पटु तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विकलता, ठहरो श्रम परिहारो।"

इसी प्रकार के परंपरा-प्राप्त वर्णनों को देखकर उसमें रीति-कालीन कविता की गंध आलोचकों को मिली है—

"सीसी करती हुई पार्श्व में पाकर जब-तब मुझको,
अपना उपकारी कहते थे मेरे प्रियतम तुझको।"

यह हेमन्त का प्राचीन वर्णन ही है। कहीं कहीं तो ये परंपरा-प्राप्त वर्णन बड़े ही भद्दे हो गए हैं।

'नैश नगन के गात्र में पड़े फफोले हाय!
तो क्या हाय न आह भी करूँ आज निरुपाय?'

तारों को फफोला बताना उर्दू साहित्य की देन है।

जहां भी गुप्त जी इस पारंपरिकता को छोड़कर स्वच्छन्द हो प्रकृति के बीच पात्रों को खड़ा करते हैं वे दृश्य सचमुच हृदयस्पर्शी हैं।

"मैं निज अलिन्द में खड़ी थी सखि एक रात,
रिमझिम बूँदें पड़ती थीं घटा छाई थी,
गमक रहा था केतकी का गन्ध चारों ओर,
झिल्ली-झनकार यही मेरे मन आई थी,
करने लगी मैं अनुकरण स्व-नूपुर से,
चंचला थी चमकी घटा सी घहराई थी,
चौंक देखा मैंने, चुप कोने में खड़े थे प्रिय,
माई मुख लज्जा उसी छाती में छिपाई थी!"

अलङ्कार काव्य नहीं हैं, वे उसके उपकरणमात्र हैं। भाव-प्रकाशन का एक उपायमात्र हैं, अभिव्यञ्जना की एक प्रणाली हैं। आधुनिक हिन्दी काव्य में अभिव्यञ्जना का महत्व अधिक है। छायावाद के नाम से अभिहित होने वाली कविता में अभिव्यञ्जना का प्रमुख स्थान है। गुप्त जी के अलङ्कार भी भावव्यञ्जक होकर आए हैं, काव्य के भार होकर नहीं। गुप्त जी ने अलङ्कारों की भर्ती का

प्रयत्न भी नहीं किया है, वे स्वभावतः आ गए हैं। कुछ चुने हुए उदाहरण देखिये—

"नाक का मोती अधर की कान्ति से, बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से,
देख कर सहसा हुआ शुक मौन है, सोचता है अन्य शुक यह कौन है !"

इन पंक्तियों में तद्गुण और भ्रान्ति का सुन्दर उदाहरण है—

'कैसी हिलती डुलती अभिलाषा है कली मुझ खिलने की।
जैसी मिलती जुलती उच्चाशा है भली मुझे मिलने की॥"

आधुनिक ढंग की उपमा का कितना अच्छा समावेश इन पंक्तियों में हुआ है।

अपह्नुति का एक उदाहरण देखिये—

"हंस रहा ! तेरा भी बिगड़ गया क्या विवेक बन बन के ?
मोती नहीं, अरे, ये आँसू हैं उर्मिला नयन के।"

विभावना अलंकार का यह एक अच्छा उदाहरण है—

"प्रियतम के गौरव ने लघुता दी है मुझे रहें दिन भारी।"

स्वभावोक्ति का एक उदाहरण लीजिए—

"अंचल-पट कटि में खोंस, कछोटा मारे।
सीता माता थीं आज नई धज धारे॥"

इनकी अभिव्यञ्जना से युक्त रूपक का भी एक उदाहरण लीजिए—

"अवधि शिला का उर पर था गुरु भार।
तिल तिल काट रही थी दृग जल धार॥"

लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग भी साकेत में अच्छे हुए हैं—

"कूड़े से भी आगे, पहुँचा अपना अदृष्ट गिरते गिरते।
दिन बारह वर्षों में, घूरे के भी सुने गए हैं फिरते॥"

गुप्त जी की भाषा भावों के अनुकूल होती है। अपनी भाषा के बल पर इन्होंने मानव-जगत् और प्रकृति-जगत् के चित्रों में सजीवता भर दी है।

इनकी भाषा प्रसाद गुण से युक्त होती है परन्तु कहीं कहीं गंभीर भी हो उठती है। जहां संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है वहां 'हरिऔध' जी की शैली का ध्यान हो आता है।

वर्तमान कवियों में गुप्त जी ने विभिन्न प्रकार के छन्दों का

प्रयोग सब से अधिक किया है। वे इस कार्य में सफल हुए हैं। गुप्त जी ने बहुत से गीत लिखे हैं। साकेत और यशोधरा के गीत बहुत ललित हैं। उनके एक गीत की कुछ पंक्तियाँ देखिये।

यही आता है इस मन में,
छोड़ धाम धन जाकर मैं भी रहूँ, उसी बन में।
प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूँ, रहूँ निकट भी दूर,
व्यथा रहे पर साथ साथ ही समाधान भरपूर।
हर्ष डूबा हो रोदन में, यही आता है इस मन में॥
बीच बीच में उन्हें देखलूँ, मैं झुरमुट की ओट,
जब वे निकल जायँ तब लेटूँ उसी धूल में लोट।
रहें रत वे निज साधन में, यही आता है इस मन में॥

पंडित अयोध्यासिंह 'उपाध्याय' हरिऔध—भारतेंदुकाल के उत्तरार्द्ध में हरिऔध जी कविता के क्षेत्र में सर्वप्रथम आये। पहले पहल इन्होंने ब्रज-भाषा में रचनाएं कीं। 'रसकलश' में इन्होंने नवीन दृष्टिकोण से नायिका भेदों की सृष्टि की। पीछे से ये खड़ी बोली की रचनाएं भी करने लगे। खड़ी बोली में प्रबन्ध काव्य की कमी उपाध्याय जी को बराबर खटकती रही। उपाध्याय जी ने 'प्रियप्रवास' की रचना करके खड़ी बोली काव्य में प्रबन्ध काव्य की कमी को दूर कर दिया। वास्तव म देखा जाये तो इससे पहले ब्रज-भाषा में भी इतना सफल प्रबंध काव्य नहीं मिलता। इनका दूसरा महाकाव्य 'वैदेही-वनवास' है। इसकी भाषा प्रियप्रवास की अपेक्षा सरल और गतिशील है। प्रियप्रवास में संस्कृत वर्णवृत्तों के प्रयोग के कारण संस्कृतबहुल भाषा का आना अनिवार्य होगया है। वैसे तो इन महाकवि का भाषा पर विस्तृत अधिकार है; विभिन्न प्रकार की भाषा-शैली इनकी विशेषता है। इस ग्रन्थ में मात्रिक छन्दों का ही प्रायः प्रयोग हुआ है। अलंकारों को जान बूझकर लाने का इन्होंने यत्न नहीं किया है। स्वाभाविक रूप से आये हुए अलंकरों से प्रसंगों की शोभा बढ़ गई है।

उपाध्याय जी ने अपने महाकाव्य के लिये कृष्ण चरित्र को अपनाया। आधुनिक युग में गुप्त जी रामकाव्य के प्रतीक हैं तो 'हरिऔध' जी कृष्णकाव्य के। उपाध्याय जी ने इधर 'वैदेही-वनवास' की रचना करके रामभक्ति शाखा के कवियों में भी अपना स्थान बना लिया। यद्यपि सभी विद्वान् आलोचक इस बात में एकमत

नहीं हैं कि उपाध्याय जी ने शुद्ध भक्ति-भावना से प्रेरित होकर यह पुस्तक लिखी है। इनका कहना है कि उपाध्याय जी ने जिस प्रकार प्रियप्रवास में कृष्ण का आदर्श चरित्र काव्य दृष्टि से अपनाया है उसी प्रकार वैदेही वनवास में मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के चरित्र को लिया है। महाकवि तुलसीदास ने रामकाव्य के सीता-निर्वासन के अंश को छोड़ दिया है। परम कारुणिक भवभूति को यह अंश अधिक प्रिय लगा। 'उत्तर रामचरित' के अनुकरण पर ही उपाध्याय जी ने वैदेही वनवास की रचना की है।

उपाध्याय जी इस युग की करुणा और तर्कशीलता से पूरी तरह प्रभावित हैं। प्रत्येक घटना की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या करना और अलौकिक पात्रों में मानव गुणों का आरोप भी इस युग की विशेषता है। हरिऔध जी अलौकिक घटनाओं और कहीं धार्मिक विश्वासों के संबन्ध में भवभूति से भिन्नमत हुए हैं। हरिऔध जी के विश्वप्रेम और राष्ट्रीयता की भावना इनकी प्रत्येक रचना में प्रतिफलित हुई है। प्रियप्रवास की राधा विश्व की प्रेमिका है तो जनक-नन्दिनी सीता माता लोकहित से विमुख नहीं हैं। सीता के चरित्र में यह नवीनता लाने का श्रेय उपाध्याय जी को है। तुलसीदास की सीता आदर्श गृहिणी हैं उनका क्षेत्र राम और राम के परिवार तक ही सीमित है। गुप्त जी की सीता प्रजा की कल्याण कामना के लिये सजग दिखाई देती है। उपाध्याय जी की कल्पना ने सीता को एक पग और आगे बढ़ा दिया है।

"कर मंगल कामना प्रसव की। जननि क्रिया की सद्वाञ्छा से।
सकल लोक उपकार परायण। पुत्र प्राप्ति की आकांक्षा से॥"

वैदेही वनवास अठारह सर्गों का महाकाव्य है। करुणरस की ही उसमें प्रधानता है—

"क्षमा कीजिये आकुलता में क्या कहते क्या कहा गया।
नहीं उपस्थित कर सकती हूँ मैं कोई प्रस्ताव नया॥
अपने दुख की जितनी बातें मैंने हो उद्विग्न कहीं।
आपको प्रभावित करने का था उनका उद्देश्य नहीं॥"

भवभूति की सीता में जिस करुणा के, जिस उद्वेग के और जिस वेदना के दर्शन हमें होते हैं वह उपाध्याय जी की सीता में नहीं, इसका कारण बहुत दूर तक उपाध्याय जी की आदर्श भावना

ही है जिस लोक-कल्याण की भावना और कर्त्तव्य बुद्धि का समावेश उनकी सीता में हुआ है उसके कारण उनकी वेदना को आदर्श बुद्धि ने दबा लिया है।

वही करूँगी जो कुछ करने की मुझको आज्ञा होगी।
त्याग करूँगी इष्टसिद्धि के लिये बना मन को योगी॥
सुख वासना स्वार्थ की चिन्ता दोनों से मुख मोडूँगी।
लोकाराधन या प्रभु आराधन निमित्त सब छोडूँगी॥

इस प्रकार वैदेही-वनवास में करुण रस के बाद शान्त रस का परिपाक हुआ है। रौद्र आदि रसों का वर्णन इसमें नहीं के बराबर है। हाँ, वात्सल्य रस का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

"कभी तितलियों के पीछे वे दौड़ते।
कभी किलकते सुन कोकिल की काकली॥"
"ठुमुक ठुमुक चल किसी कूल के पास जा।
विहँस विहँस थे तुतली-वाणी बोलते॥
टूटी फूटी निज पदावली में उमग।
बार बार थे सरस-सुधारस घोलते॥"

प्रकृति का वर्णन महाकाव्य का एक आवश्यक अंग माना गया है। उपाध्याय जी प्रकृति के परम उपासक हैं। उनके कवि जीवन की प्राथमिक रचनाओं में भी प्रकृति के व्यापारों में तल्लीन कर देने वाले अनुराग के दर्शन होते हैं। इनकी नवीनतम कृति 'वैदेही वनवास' में प्रकृति का सुन्दरतम चित्रण हुआ है। जिस प्रकार 'प्रिय प्रवास' का प्रारम्भ प्रकृति के संध्याकालीन दृश्यों के वर्णन से हुआ है इसी प्रकार इसका प्रारम्भ प्रभात वर्णन से।

लोक-रंजनी उषा-सुन्दरी रंजन-रत थी।
नभ-तल था अनुराग-रँगा आभा-निर्गत थी॥
धीरे धीरे तिरोभूत तामस होता था।
ज्योति-बीज प्राची प्रदेश में दिव बोता था॥

उपाध्याय जी ने प्रकृति को उसके स्वाभाविक स्वरूप में ही देखने का अधिक प्रयत्न किया है। अपनी कल्पनाओं का आरोप उन्होंने बहुत कम किया है।

बादल थे नभ में छाये, बदला था रंग समय का।
थी प्रकृति भरी करुणा में, कर उपचय मेघ निचय का॥

बसन्त ऋतु में वनस्थली का रम्य और स्वाभाविक चित्र देखिये—

> कितने पादप लाल-लाल कोपल मिले, ऋतु-पति के अनुराग-रंग में थे रंगे।
> बने मञ्जु-परिधान बाम बहु-विटप, शाखाओं में हरित नवल दल के लगे॥

इस काव्य में उपाध्याय जी ने प्रकृति को उसके सभी संभव रूपों में देखने की चेष्टा की है।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से राम और सीता के चरित्र में ही उल्लेख योग्य विकास हुआ है। भवभूति के राम ने लोकापवाद के भय से सीता को वन-दर्शन के ही बहाने निर्वासित किया। यह बात आधुनिक आदर्शवाद की दृष्टि से खटकने वाली थी। उपाध्याय जी के राम ने लोकापवाद की समस्या पर सीता की सलाह लेकर अपने हृदय की दुर्बलता के कलंक को दूर करने का प्रयत्न किया है। भवभूति के राम ने अपने भाइयों से भी इस विषय पर परामर्श करने की आवश्यकता न समझी। सीता के निर्वासन का कार्य उन्होंने लक्ष्मण से कराया अवश्य, परन्तु लक्ष्मण की दृष्टि में कार्य कहां तक उचित था यह विचारने की बात है। काव्यों में वर्णित लक्ष्मण के चरित्र से स्पष्ट है कि वे अपने भाई के अन्ध भक्त थे। इसके विपरीत "वैदेही-बनवास" में सीता के निर्वासन पर भाइयों से परामर्श किया गया है। भाइयों का विचार था कि इस लोकापवाद का कारण लवणासुर तथा अन्य गन्धर्वों का कुचक्र है, कुचक्रियों को दण्ड देना लक्ष्मण को अभीष्ट है—

> सँभल कर वे मुँह को खोलें। राज्य में है जिनको बसना॥
> चाहता है यह मेरा जी। रजक की खिचवा लूँ रसना॥

दानव द्रोह का कारण जनकात्मजा को मानकर राम के विरुद्ध अपवाद फैलाया गया था। परन्तु राम की इच्छा थी कि—

> पठन कर लोकाराधन-मंत्र। करूँगा मैं इसका प्रतिकार॥

अन्त में वही हुआ, भाइयों को ही नहीं वशिष्ठ को भी अनुमति देनी पड़ी। सीता परित्याग से होने वाले राम के कष्ट की कल्पना ही की जा सकती है। राम की करुणा का वर्णन बहुत ही मर्मस्पर्शी हुआ है। हरिऔध जी के राम क्षमा और सहनशीलता के अवतार हैं।

सीता के विश्व प्रेम का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वे दया की प्रतिमूर्ति हैं। लंकादहन के समय निरपराध बालक और जरा वृद्धों एवं निरीह अबलाओं का करुण क्रन्दन उसकी स्मृति को तरल बना देता है।

क्रन्दन, कोलाहल, बहु आहों की भरमारें।
आहत जन की लोकप्रकंपितकरी पुकारें॥
कहाँ भूल पाई वे तो हैं भूल न पातीं।
स्मृति उनकी है आज भी मुझे बहुत सताती॥

शांति उनकी कामना है और विश्व-कल्याण उनका ध्येय; पतिसेवा उनका कर्त्तव्य और पति ही उनकी गति है—

ज्योंही पति प्राण ने पति-पद-पद्म का।
स्पर्श किया निर्जीव मूर्ति सी बन गई॥
और हुए अतिरेक चित्त उल्लास का।
दिव्य-ज्योति में परिणत वे पल में हुईं॥

Printed by the Manager at the Bombay Sanskrit Press,
Shahi Mohalla, Lahore.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.